एकादश अध्याय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एकादश अध्याय

षट्खण्डागम

प्रथम प्रकरण

यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में प्रस्तुत हेतु

ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों और ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि षट्खण्डागम दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ है। किन्तु यापनीयपक्षधर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने इसे यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके पक्ष में उन्होंने अपने ग्रन्थ **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** में निम्नलिखित हेतु प्रस्तुत किये हैं—

१. षट्खण्डागम के उपदेशक आचार्य धरसेन का नाम दिगम्बरपट्टावलियों में नहीं मिलता। यह सूचित करता है कि धरसेन दिगम्बर-परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे। (पृ.९२)।

२. नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीयसंघ की पट्टावली है। उसमें धरसेन के नाम का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वे यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं। (पृ.९३)।

३. धरसेन ने अपने पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्यों के लिए 'जोणिपाहुड' (योनि-प्राभृत) ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का सर्वाधिक उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में है, इसलिए सम्भावना है कि इसके उपदेशक धरसेन उत्तरभारत की अविभक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान-मातृपरम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे। (पृ.९३-९५)।

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक-महोदय ने जहाँ-जहाँ 'उत्तरभारत की निर्ग्रन्थ-परम्परा या संघ' अथवा 'उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ-परम्परा या संघ' शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ 'निर्ग्रन्थ' शब्द से उन्हें 'दिगम्बर' अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु 'सचेलाचेल' अर्थ अभिप्रेत है, यह सर्वत्र स्मरणीय है। इसी परम्परा को उन्होंने श्वेताम्बर-यापनीय-मातृ-परम्परा माना है। इसका स्पष्टीकरण द्वितीय अध्याय के तृतीय और चतुर्थ प्रकरणों में किया जा चुका है।

४. धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपदेश दिया था, जिसके आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की थी। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत उत्तरभारत की अविभक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थ परम्परा (श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा) में निर्मित हुआ था, अतः धरसेन इसी परम्परा के आचार्य सिद्ध होते हैं। (पृ.९७)।

५. षट्खण्डागम की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से समानता रखती हैं। यह साम्य तभी हो सकता है, जब दोनों किसी समान पूर्वपरम्परा से सम्बद्ध हों। और वह समान पूर्वपरम्परा उत्तरभारत की सचेलाचेल निर्ग्रन्थपरम्परा थी, जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्पत्ति हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। (पृ. १०३-१०४)।

६. धरसेन के महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपदेश के आधार पर पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की थी। अतः धरसेन श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्य थे और पुष्पदन्त तथा भूतबलि यापनीय-परम्परा के। (पृ.९७)।

७. षट्खण्डागम की रचना से सम्बन्धित आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि वस्तुतः कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित वज्रसेन, पुसगिरि और भूतदिन्न ही हैं। अतः षट्खण्डागम की रचना श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्यों ने की है। (पृ.९५-९६)।

८. षट्खण्डागम में 'मणुसिणी' (मनुष्यस्त्री) में संयत गुणस्थान बतलाये गये हैं। मणुसिणी का अर्थ केवल द्रव्यस्त्री है। उसे जो भावस्त्री का भी वाचक माना गया है, वह गलत है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति-समर्थक परम्परा का है। यापनीय भी स्त्रीमुक्ति-समर्थक थे। अतः इसके कर्त्ता यापनीय ही होंगे। (पृ. १०१-१०२)।

यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक की अनिश्चयात्मक मनोदशा

इन हेतुओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इनमें महान् अन्तर्विरोध है। यापनीयपक्षधर विद्वान् ने धरसेन को यापनीय-परम्परा का भी आचार्य माना है, श्वेताम्बर परम्परा का भी और उसकी पूर्ववर्ती दोनों की अविभक्त मातृपरम्परा का भी। इससे उनकी अनिश्चयात्मक मनोदशा का पता चलता है। मान्य विद्वान् ने षट्खण्डागम के उपदेष्टा आचार्य धरसेन के सम्प्रदाय का निर्णय करने के लिए अपने ग्रन्थ **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** के नौ पृष्ठों (९०-९८) में विस्तृत ऊहापोह किया है और उसके बाद उपसंहार करते हुए लिखा है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"इस प्रकार साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों, आधारभूत ग्रन्थ, क्षेत्र तथा काल सभी दृष्टियों से धरसेन मूलसंघीय परम्परा से सम्बद्ध न होकर श्वेताम्बर या यापनीय परम्परा से अथवा उनकी पूर्वज उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थपरम्परा से ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।" (पृ.९८)।

यह कथन मान्य विद्वान् की अनिश्चयात्मक मनोदशा का उद्घाटन करता है। अर्थात् इतना ऊहापाह करने के बाद भी वे यह निश्चित नहीं कर पाते कि धरसेन श्वेताम्बर थे या यापनीय अथवा उनके पूर्वज? उनकी मनोदशा इन तीनों के बीच दोलायमान है। धरसेन उन्हें कभी श्वेताम्बर प्रतीत होते हैं, कभी यापनीय और कभी दोनों के पूर्वज, क्योंकि तीनों के पक्ष में जो साक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं, वे एक-दूसरे को बाधित करते हैं। यह अनेक कोटियों का स्पर्श करनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है—"**विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।**" (न्यायदीपिका १/९)। यह संशय या अनिश्चय सूचित करता है कि मान्य विद्वान् के पास धरसेन को, न तो श्वेताम्बर सिद्ध करनेवाले प्रमाण मौजूद हैं, न यापनीय सिद्ध करनेवाले और न दोनों की मातृ-परम्परा का सिद्ध करनेवाले। धरसेन इनमें से किसी एक ही परम्परा के हो सकते हैं : श्वेताम्बरपरम्परा के, यापनीयपरम्परा के अथवा दोनों की मातृपरम्परा के। किन्तु मान्य विद्वान् उन्हें इनमें से किसी एक परम्परा का सिद्ध नहीं कर पाते। इससे स्पष्ट है कि धरसेन इन तीनों में से किसी भी परम्परा के नहीं थे। अतः यह इतिहासप्रसिद्ध तथ्य बाधित नहीं हो पाता कि वे दिगम्बर थे।

मान्य विद्वान् के 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ का 'षट्खण्डागम' प्रकरण इसी प्रकार के परस्परविरुद्ध निष्कर्षों से भरा पड़ा है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. दिगम्बर-नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली को वे यापनीय-नन्दिसंघ की पट्टावली मानकर कहते हैं कि उसमें धरसेन का उल्लेख होने से "यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।" (पृ.९३)। किन्तु आगे लिखते हैं कि धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) परम्परा में निर्मित 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' का अध्ययन कराया था। "अतः धरसेन उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) संघ के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।" (पृ.९७)। इन दोनों मतों में से कोई एक ही मत सत्य हो सकता है, किन्तु मान्य विद्वान् के पास इनमें से किसी एक को ही सत्य सिद्ध करनेवाला प्रमाण न होने से स्पष्ट है कि धरसेन न तो यापनीयसंघ से सम्बद्ध थे, न ही कपोलकल्पित उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थ संघ से। इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि वे दिगम्बरपरम्परा से सम्बद्ध थे।

२. मान्य विद्वान् 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के पृष्ठ ९२ पर लिखते हैं—"यदि कुछ समय के लिए नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली को प्रमाण मान लें, तो उससे यह सिद्ध होता है कि धरसेन वीरनिर्वाण संवत् ६३३ में दिवंगत हुए। इसमें उनका आचार्यकाल १९ वर्ष माना गया है, अत: वे वीर निर्वाण संवत् ६१४ में आचार्य हुए। यदि वे अपनी आयु के ५०वें वर्ष में आचार्य हुए हों, तो यह माना जा सकता है कि लगभग उसके ३० वर्ष पूर्व वे दीक्षित हुए होंगे। अत: उनकी दीक्षा का समय वीरनिर्वाण संवत् ५८४ (ई०सन् ५७) के आस-पास हो सकता है। अत: धरसेन संघभेद की घटना के, जो वीर निर्वाण संवत् ६०९ में घटित हुई थी, पूर्व ही दीक्षित हो चुके थे। निष्कर्ष यह है कि वे संघभेद की घटना के पूर्व अविभक्त उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) परम्परा के किसी गण के आचार्य रहे होंगे।"

किन्तु अगले ही पृष्ठ (९३) पर वे इसके ठीक विपरीत यह लिखते हैं—"पुन: जिस नन्दिसंघ की पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नन्दिसंघ भी यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहा है। कणप (कडब) के शक संवत् ७३५, ईसवी सन् ८१३ के एक अभिलेख में **श्री यापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्ष-मूलगण** ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यापनीय और नन्दिसंघ की इस एकरूपता और नन्दिसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।"

यहाँ एक ही नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली के आधार पर वीरनिर्वाण संवत् ५८४ में उत्तर भारत की तथाकथित अविभक्त निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) परम्परा का भी अस्तित्व बतलाया गया है और उसके विभाजन से उत्पन्न होनेवाले यापनीयसंघ का भी, क्योंकि धरसेन को दोनों से सम्बद्ध प्रतिपादित किया गया है। यह परस्परविरुद्ध है। इनमें से कोई एक ही बात सत्य हो सकती है। किन्तु दोनों में से किसी एक को सत्य सिद्ध करनेवाले प्रमाण मान्य विद्वान् के पास नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि वीर नि० सं० ५८४ में न तो उत्तरभारत के तथाकथित (सचेलाचेल) निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व था, न यापनीयसंघ का। इसलिए यह भी सिद्ध है कि धरसेन न तो तथाकथित उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) संघ से सम्बद्ध थे, न यापनीयसंघ से। फलस्वरूप यह स्वत: सिद्ध होता है कि वे दिगम्बरसंघ से सम्बद्ध थे।

३. मान्य विद्वान् ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ९६ पर लिखा है-"सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि मथुरा के हुविष्क के वर्ष ४८ के एक अभिलेख में ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के **धर** का उल्लेख है। लेख के आगे के अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका, हो सकता है। पूरा नाम **धरसेन** हो। क्योंकि

कल्पसूत्र-स्थविरावली में **शान्तिसेन, वज्रसेन** आदि सेन-नामान्तक नाम मिलते हैं। अत: इसके धरसेन होने की सम्भावना को निरस्त नहीं किया जा सकता है। इस काल में हमें कल्पसूत्र-स्थविरावली में एक **पुसगिरि** का भी उल्लेख मिलता है। हो सकता है, ये **पुष्पदन्त** हों। इसी प्रकार नन्दीसूत्र-वाचकवंश-स्थविरावली में **भूतदिन्न** का भी उल्लेख है। इनका समीकरण **भूतबलि** से किया जा सकता है।''

यहाँ मान्य विद्वान् ने पुष्पदन्त और भूतबलि को भी स्थविरावलियों के अनुसार ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी का मानते हुए उनके उत्तरभारतीय सचेलाचेल परम्परा से सम्बद्ध होने की संभावना व्यक्त की है, किन्तु उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १०१-१०२ पर षट्खण्डागम की विषयवस्तु ('संजद' पद की उपस्थिति) के आधार पर उन्हें ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी से पूर्व का स्वीकार न करते हुए यापनीयसंघ से सम्बद्ध सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन मन्तव्यों में भी परस्पर-विरोध है। दोनों में से कोई एक ही सत्य हो सकता है। किन्तु मान्य विद्वान् ने उनमें से किसी एक को सत्य और दूसरे को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है, जिससे स्पष्ट है उनके पास पुष्पदन्त और भूतबलि को न तो उत्तरभारत की तथाकथित (सचेलाचेल) निर्ग्रन्थ परम्परा का सिद्ध करनेवाले प्रमाण हैं, न यापनीयपरम्परा का सिद्ध करनेवाले, जिससे निश्चित होता है कि वे भी दिगम्बरपरम्परा से ही सम्बद्ध थे।

४. मान्य विद्वान् उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९३ पर लिखते हैं—''धरसेन के सन्दर्भ में जो अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनमें दो का उल्लेख विद्वानों ने किया है। सर्वप्रथम आचार्य धरसेन को **जोणिपाहुड** (**योनिप्राभृत**) नामक निमित्तशास्त्र के एक अपूर्व ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है। इस ग्रन्थ की एक प्रति 'भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना' में है। पं० बेचरदास जी ने इस प्रति से जो नोट्स लिखे थे, उनके आधर पर यह ग्रन्थ **पण्णसवन मुनि** ने अपने शिष्य **पुष्पदन्त** और **भूतबलि** के लिए लिखा था। वि० सं० १५५६ में लिखी गयी बृहट्टिप्पणिका में इस ग्रन्थ को वीर निर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् धारसेन (धरसेन) द्वारा रचित माना गया है।''

मान्य विद्वान् आगे लिखते हैं—''जहाँ दिगम्बरपरम्परा में मात्र धवला में उनके इस ग्रन्थ का उल्लेख है, वहाँ श्वेताम्बरपरम्परा में छठी शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक अनेक ग्रन्थों में उनके इस ग्रन्थ के निरन्तर उल्लेख पाये जाते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि धरसेन और उनका ग्रन्थ **योनिप्राभृत** (**जोणिपाहुड**) श्वेताम्बरपरम्परा में मान्य रहा है। अत: वे उत्तरभारत की उसी निर्ग्रन्थपरम्परा से सम्बद्ध होंगे, जिसके ग्रन्थों का उत्तराधिकार श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को समानरूप से मिला है। यापनीयों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के माध्यम से ही इनका और इनके ग्रन्थ जोणिपाहुड का उल्लेख धवला में हुआ है।'' (पृ.९५)।

यहाँ मान्य विद्वान् ने इस कथन का खण्डन नहीं किया है कि धरसेन ने **जोणिपाहुड** ग्रन्थ अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा था, जिससे सिद्ध होता है कि यह तथ्य उन्हें स्वीकार्य है और इसके स्वीकार्य होने से यह भी स्वीकृत हो जाता है कि ये दोनों शिष्य अपने गुरु धरसेन के समकालीन थे अर्थात् वे यापनीयसंघ की उत्पत्ति (वीर नि० सं० ६०९) से पूर्व विद्यमान थे, अतः वे अपने गुरु के ही समान यापनीय नहीं थे। किन्तु मान्य विद्वान् उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १०४ पर लिखते हैं कि ''षट्खण्डागम ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है।'' ऐसा लिखकर उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है उसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलि अपने गुरु धरसेन से दो-तीन सौ वर्ष बाद हुए थे और उस समय यापनीय-सम्प्रदाय का उदय हो चुका था, अतः वे यापनीयपरम्परा के आचार्य थे।

इन दोनों मान्यताओं में भी अन्तर्विरोध है। इनमें से कोई एक ही सत्य हो सकती है। अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि या तो अपने गुरु धरसेन के समकालीन (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के) होने से तथाकथित उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थ (सचेलाचेल) संघ से ही सम्बद्ध हो सकते हैं या उत्तरकालीन होने से यापनीयसंघ से। किन्तु मान्य विद्वान् ने उन्हें इनमें से किसी एक संघ से सम्बद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि ऐसा करने के लिए उनके पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं था, अतः उक्त आचार्य न तो तथाकथित उत्तरभारतीय सचेलाचेल संघ से सम्बद्ध थे, न यापनीयसंघ से, अपितु वे शुद्ध दिगम्बर थे।

५. मान्य विद्वान् ने मथुरा के हुविष्ककालीन अभिलेख तथा कल्पसूत्र और नन्दिसूत्र की स्थविरावलियों में निर्दिष्ट **धर, पुसगिरि** और **भूतदिन्न** नामों को **धरसेन, पुष्पदन्त** और **भूतबलि** का ही परिवर्तित रूप मानकर तथा जोणिपाहुड के रचनाकाल के आधार पर इन तीनों आचार्यों का अस्तित्व वीर नि० सं० ६०९ के पूर्व मानते हुए षट्खण्डागम का रचनाकाल यही स्वीकार किया है। उधर उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९५-९७ पर धवलाटीका (ष.खं./पु.१/१,१,१/पृ.६७-६८) के उल्लेखानुसार चौथी शताब्दी ई० निर्धारित किया है। तथा गुणस्थान-विकासवाद की स्वकल्पित मान्यतानुसार पाँचवी शताब्दी ई० में ले गये हैं (जै.ध.या.स./पृ. २४८-२५२)। और प्रो० एम० ए० ढाकी का यह मत भी स्वीकार कर लिया है कि षट्खण्डागम की रचना पाँचवीं-छठवीं शताब्दी ई० में हुई थी। इस प्रकार **षट्खण्डागम के रचनाकाल के विषय में मान्य विद्वान् की मनोदशा महान् अन्तर्विरोधों एवं अनिश्चय से भरी हुई है।**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इन मान्य किये गये विभिन्न रचनाकालों में से कोई एक ही सत्य हो सकता है, किन्तु मान्य विद्वान् ने बलिष्ठ प्रमाणों के द्वारा शेष को निरस्त कर किसी एक को निश्चित नहीं किया। अतः एक-दूसरे से बाधित होकर सभी अप्रामाणिक सिद्ध हो जाते हैं।

६. मान्य विद्वान् ने यापनीयसंघ का उदयकाल बोटिककथा एवं दर्शनसार के अनुसार ई० सन् ८२ (वीर नि० सं० ६०९, विक्रम सं० १३९) निर्धारित किया है। दिगम्बर-नन्दिसंघ को यापनीय-नन्दिसंघ मानकर उसकी प्राकृतपट्टावली के अनुसार ई० सन् ५७ (वीर नि० सं० ५८४, देखिए ऊपर) तथा मृगेशवर्मा के हल्सी अभिलेख (क्र.९९) के आधार पर ई० सन् ४९० से कुछ पूर्व माना है। (पृ. ३५७, ३७३)। किन्तु अन्तिमरूप से कोई एक काल निर्धारित नहीं किया। इससे भी उनकी अनिश्चयात्मक मनोदशा सूचित होती है।

७. उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९० और ९२ पर मान्य विद्वान् तिलोयपण्णत्ती और हरिवंशपुराण को दिगम्बरग्रन्थ मानते हुए कहते हैं कि उनमें वर्णित आचार्यपरम्परा में धरसेन का नाम न होने से सिद्ध होता है कि वे दिगम्बर नहीं थे। किन्तु आगे वे इन्हीं ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का सिद्ध करने के लिए हेत्वाभासों की बौछार लगा देते हैं। यह भी उनकी अनिश्चयात्मक मनःस्थिति का एक प्रमाण है।

यहाँ हम देखते हैं कि **यापनीय-पक्षधर ग्रन्थलेखक के मन में सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति या अनिश्चय आचार्य धरसेन के समय और सम्प्रदाय के विषय में है।** अतः इन दोनों बातों का निश्चय हो जाने पर सभी प्रश्नों का समाधान हो सकता है, अर्थात् यह निर्णय हो सकता है कि मान्य ग्रन्थलेखक ने षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे वास्तविक हैं या कपोलकल्पित? यद्यपि धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, तीनों आचार्य उपदेष्टा और उपदेश्य के रूप में आमने-सामने थे, अतः समकालीन थे, तथापि उपर्युक्त यापनीय-पक्षधर ग्रन्थलेखक ने उनके काल में लगभग दो-तीन सौ वर्ष का अन्तर पैदा करने की कोशिश की है, जैसा कि उनके पूर्वोद्धृत वचन से स्पष्ट है। अतः षट्खण्डागम का रचनाकाल निर्णीत हो जाने पर इस विप्रतिपत्ति का भी निवारण हो जायेगा। इसलिए सर्वप्रथम षट्खण्डागम के रचनाकाल का निर्णय किया जा रहा है।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्वितीय प्रकरण

षट्खण्डागम का रचनाकाल : ई. पू. प्रथमशती का पूर्वार्ध

षट्खण्डागम की रचना आचार्य धरसेन से प्राप्त उपदेश के आधार पर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने की थी। धवला, जयधवला टीकाओं एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के उल्लेखों के अनुसार आचार्य धरसेन का स्थितिकाल महावीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद आता है।[१] नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में उनकी स्थिति वीरनिर्वाण संवत् ६१४ से ६८३ के बीच बतलाई गई है।[२]

एक जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) नाम का ग्रन्थ भी धरसेन द्वारा रचित प्राप्त होता है। इसकी एक प्रति भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट, पूना में है। "प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी ने इस ग्रन्थ-प्रति का वहाँ पर अवलोकन किया था और उस पर से परिचय के कुछ नोट्स गुजराती में लिये थे। दिगम्बरग्रन्थ होने के कारण उन्होंने बाद को वे नोट्स सदुपयोग के लिए सुहृद्वर पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई को दिये थे।"[३] किसी आचार्य द्वारा संवत् १५५६ में लिखित बृहट्टिप्पणिका नामक ग्रन्थसूची में इसे वीरनिर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् रचित कहा गया है—"**योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्**"[४] किन्तु ग्रन्थ में इसके कर्त्ता का नाम **पण्हसवण ऋषि** उल्लिखित है और कहा गया है कि उन्होंने यह ग्रन्थ अपने शिष्य भूतबलि और पुष्पदन्त के लिए लिखा था।[५] पण्हसवण का अर्थ है 'प्रज्ञाश्रमण', यह एक ऋद्धि का नाम है। सम्भवत: धरसेनाचार्य इस ऋद्धि के धारी थे, इसलिए उन्हें 'प्रज्ञाश्रमण' कहा गया है।[६] षट्खण्डागम में प्रज्ञाश्रमणों को नमस्कार किया गया है—'**णमो पण्णसमणाणं।**'[७] धवलाटीका में भी 'जोणिपाहुड' का उल्लेख किया गया है—"**जोणिपाहुडे भणिद-मंततंतसत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो।**"[८] "नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली के अनुसार धरसेन का काल वीरनिर्वाण से ६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अत: अपने पट्टकाल से १४ वर्ष पूर्व उन्होंने यह ग्रन्थ रचा होगा। इस समीकरण से प्राकृतपट्टावली और बृहट्टिप्पणिका के संकेत, इन

---

१. डॉ. हीरालाल जैन : षट्खण्डागम / पु.१/ प्रस्तावना / पृ.२०।
२. वही / पृ.२५।
३. पं. जुगलकिशोर मुख्तार : सम्पादकीय / 'अनेकान्त'/१ जुलाई, १९३९ / पृ.४८६।
४. वही / पृ.४८५।
५. वही / पृ.४८७।
६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा / खण्ड २ / पृ.४६।
७. षट्खण्डागम / पु.९ / ४,१,१८ / पृ.८१।
८. षट्खण्डागम / पु. १/ प्रस्तावना / पृ.२६।

दोनों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे से स्वतंत्र आधार पर लिखे हुए प्रतीत होते है।''[८] निष्कर्ष यह कि 'जोणिपाहुड' ग्रन्थ के रचनाकाल की दृष्टि से आचार्य धरसेन का स्थितिकाल वीर निर्वाण संवत् ६०० अर्थात् (६००-५२७) ७३ ई० के लगभग निश्चित होता है।

'प्रज्ञापनासूत्र' की प्रस्तावना के लेखकों, पं० दलसुखभाई मालवणिया एवं पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक ने, षट्खण्डागम का रचनाकाल वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् की द्वितीय शती के लगभग ही स्वीकार किया है, जैसा कि षट्खण्डागम पुस्तक १ की प्रस्तावना (पृ.८) में निर्धारित किया गया है।

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य लिखते हैं—''प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीरनिर्वाण संवत् ६१४-६८३ के बीच धरसेन का समय होना चाहिए। पट्टावली में धरसेन का आचार्यकाल १९ वर्ष बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि वीरनिर्वाण संवत् ६३३ तक धरसेन जीवित रहे हैं और वीर निर्वाण संवत् ६३० या ६३१ में पुष्पदन्त और भूतबलि को श्रुत का अध्ययन कराया है।''[९] इस आधार पर धरसेन का समय ई० सन् ७३-१०६ ई० तक आता है। किन्तु **'आचार्य कुन्दकुन्द का समय'** नामक पूर्व अध्याय में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान थे और अनेक प्रमाणों से यह साबित होता है कि उन्होंने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ लिखा था। अतः षट्खण्डागम कुन्दकुन्द से पूर्व की अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है, यह सिद्ध होता है। चूँकि पुष्पदन्त और भूतबलि, धरसेन के समकालीन थे, अतः उनका स्थितिकाल भी लगभग यही था।[१०] षट्खण्डागम के कुन्दकुन्द से पूर्व रचे जाने के प्रमाण आगे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

१

षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व

आचार्य इन्द्रनन्दी ने अपने 'श्रुतावतार' नामक प्रकरण में श्रुत के अवतार का इतिहास निबद्ध किया है। उसमें उन्होंने उपलब्ध षट्खण्डागम तथा कसायपाहुड नामक सिद्धान्तग्रन्थों के रचे जाने का इतिवृत्त देकर लिखा है—

---

९. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खण्ड २ / पृ.४६।
१०. वही / खण्ड २ / पृ.५२-५३, ५७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे॥ १६०॥

श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य॥ १६१॥

अनुवाद—"इस प्रकार द्रव्य और भाव रूप से आते हुए दोनों सिद्धान्तग्रन्थों को कुण्डकुन्दपुर में श्री पद्मनन्दिमुनि ने गुरुपरम्परा से अधिगत किया और उन्होंने भी छह खण्डों में से आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक-प्रमाण **परिकर्म** नामक ग्रन्थ रचा।"

विबुधश्रीधर ने भी 'श्रुतावतार' नामक प्रकरण में बतलाया है कि उक्त दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थों का ज्ञान सूरिपरम्परा से आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त हुआ था और उनसे पढ़कर कुन्दकीर्ति नाम के मुनि ने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।[११] यद्यपि बिबुधश्रीधर ने कुन्दकुन्द को 'परिकर्म' ग्रन्थ का कर्त्ता नहीं कहा, तथापि षट्खण्डागम और कसायपाहुड का ज्ञाता बतलाया है।

इन दो ग्रन्थकर्त्ताओं के वचनों से ज्ञात होता है कि षट्खण्डागम और कसायपाहुड की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व हुई थी।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये (प्र.सा./प्रस्ता./पृ.१७) और पं० बालचन्द्र जी शास्त्री (षट्.परि./पृ.३३८-३४०) इन कथनों को विश्वसनीय नहीं मानते। किन्तु षट्खण्डागम (पुस्तक १) की प्रस्तावना में प्रो० हीरालाल जी जैन लिखते हैं—

"षट्खण्डागम के रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्य के सम्बन्ध से भी पड़ता है। इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों पुस्तकारूढ़ हो चुके, तब कोण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि-मुनि ने, जिन्हें सिद्धान्त का ज्ञान गुरु-परिपाटी से मिला था, उन छह खण्डों में से प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक-प्रमाण टीकाग्रन्थ रचा। पद्मनन्दी कुन्दकुन्दाचार्य का भी नाम था और श्रुतावतार में कोण्डकुन्दपुर का उल्लेख आने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि यहाँ उन्हीं से अभिप्राय है। यद्यपि प्रो० उपाध्ये कुन्दकुन्द के ऐसे किसी ग्रन्थ की रचना की बात को प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उन्हें धवला और जयधवला में इसका कोई संकेत नहीं मिला। किन्तु कुन्दकुन्द के सिद्धान्तग्रंथों पर टीका बनाने

---

११. "इति सूरिपरम्परया द्विविधसिद्धान्तो व्रजन् मुनीन्द्रकुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्दकीर्तिनामा षट्खण्डानां मध्ये प्रथमत्वे खण्डानां द्वादशसहस्रप्रमितं परिकर्मनामशास्त्रं करिष्यति।" विबुधश्रीधरकृत 'श्रुतावतार'/ सिद्धान्तसारादिसंग्रह / पृष्ठ ३१८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, **परिकर्म** नामक ग्रन्थ के उल्लेख धवला और जयधवला में अनेक जगह पाये जाते हैं। प्रो० उपाध्ये ने कुन्दकुन्द के लिए ईस्वी का प्रारंभकाल, लगभग प्रथम दो शताब्दियों के भीतर का समय, अनुमान किया है, उससे भी षट्खण्डागम की रचना का समय उपर्युक्त ठीक जँचता है।'' (पृष्ठ २७)।

पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी धवलाटीका से **परिकर्म** ग्रन्थ के अनेक अंश उद्धृत कर सिद्ध किया है कि षट्खण्डागम पर **परिकर्म** नामक ग्रन्थ लिखा गया था। और वह कुन्दकुन्दकृत ही था। इसकी पुष्टि के लिए वे एक प्रमाण देते हैं। वे लिखते हैं—

''वर्गणाखण्ड में स्पर्शानुयोगद्वार के सूत्र १८ की धवलाटीका में लिखा है—

''**अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि णासंकणिज्जं, पदेसो णाम परमाणू , सो जम्हि परमाणुम्हि समवेदभावेण णत्थि सो परमाणू अपदेसओ त्ति परियम्मे वुत्तो।**'' (ष.ख./पु.१३/५,३,१८/पृ.१८)।

''परमाणु अप्रदेशी होता है और इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, ऐसा परिकर्म में कहा है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्रदेश का अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणु में समवेतभाव से नहीं है, वह परमाणु अप्रदेशी है, ऐसा परिकर्म में कहा है।''

''**अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं**' किसी गाथा के पूर्वार्द्ध का अंश प्रतीत होता है। उसका '**णेव इंदिए गेज्झं**' पद कुन्दकुन्द के नियमसार की २६वीं गाथा में भी इसी प्रकार पाया जाता है और उस गाथा में परमाणु का ही स्वरूप बतलाया है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणीहि॥ २६॥

''इस गाथा में **णेव इंदिए गेज्झं** पद से पहले **अपदेसं** पद नहीं हैं तथा परिकर्म के उक्त उद्धरण में **अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं** से पहले का कुछ गाथांश छोड़ दिया गया है। किन्तु उस छूटे हुए पद का पता अन्यत्र से चल जाता है और उस पर से यही प्रतीत होता है कि उक्त गाथा कुन्दकुन्द के ही किसी ग्रन्थ की होनी चाहिए और वह ग्रन्थ **परिकर्म** हो सकता है।''[१२]

१२.''आचार्य कुन्दकुन्दकृत परिकर्म नामक ग्रन्थ''/ 'जैनसिद्धान्त-भास्कर'/ भाग २३/किरण २/ पृष्ठ २१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इसका खुलासा पण्डित जी ने अपने लेख में आगे किया है। पण्डित जी का यह लेख शोधपूर्ण है और इससे इस बात की पुष्टि होती है कि **परिकर्म** ग्रन्थ का अस्तित्व था और उसके कर्त्ता **आचार्य कुन्दकुन्द** थे।

फिर भी यदि यह माना जाय कि कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ नहीं लिखा, तो भी वे निम्नलिखित कारणों से षट्खण्डागम के रचनाकाल से उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं—

१. **'नमो अरहंतानं। नमो सवसिधानं'** इस खारवेल के हाथीगुम्फाभिलेख-गत शिलालेखीय प्राकृत में निबद्ध द्विनमस्कारमंत्र के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत में—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥[१३]

इस पञ्चनमस्कार मंत्र की सर्वप्रथम रचना षट्खण्डागम में हुई है। इसके आदिकर्त्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं,[१४] इसका स्पष्टीकण टीकाकार वीरसेन स्वामी ने निम्न शब्दों में किया है—

''तं च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवता-णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण ण णिबद्धो देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं, 'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-'णमो अरिहंताणं' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो।'' (धवला / ष. खं. / पु.१ / १, ११ / पृ.४२)।

अनुवाद–''वह मंगल दो प्रकार का है : निबद्ध और अनिबद्ध। ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकार जो स्वरचित पद्य के द्वारा देवता को नमस्कार करता है, उसे निबद्धमंगल कहते हैं। तथा जो पर-रचित पद्य के द्वारा देवतानमस्कार किया जाता है, वह अनिबद्धमंगल कहलाता है। यह जीवस्थान नाम का **प्रथम खण्डागम** निबद्ध-मंगलवाला है, क्योंकि इसके **'इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं'** इस सूत्र के आदि में **णमो अरिहंताणं** इत्यादि देवता-नमस्कार ग्रन्थकार द्वारा निबद्ध दिखाई देता है।''

इससे स्पष्ट है कि षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड 'जीवस्थान' के प्रथमसूत्र के रूप में जो पंचणमोकार मंत्र निबद्ध है, वह षट्खण्डागम के कर्त्ता आचार्य पुष्पदन्त के द्वारा ही रचा गया है। वे ही इस महामंत्र के आद्यकर्त्ता हैं। अतः आचार्य कुन्दकुन्द

---

१३. षट्खण्डागम / पुस्तक १ / १, १, १ / पृष्ठ ८।
१४. षट्खण्डागम / पु.१ / सम्पादकीय / पृष्ठ ५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ने प्रवचनसार के आदि में जो—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं॥ ४॥

यह पंचनमस्कार निबद्ध किया है, वह षट्खण्डागम के उपर्युक्त प्रसिद्ध पंचनमस्कार मंत्र का ही अनुकरण है। उसे उन्होंने निबद्ध (स्वरचित) बनाने के लिए कुछ शाब्दिक परिवर्तन किया है, **आइरियाणं** के स्थान में **गणहराणं** तथा **उवज्झायाणं** की जगह **अज्झावयवग्गाणं** (अध्यापकवर्गेभ्यः) का प्रयोग किया है। यह कुन्दकुन्द के 'षट्खण्डागम' से परवर्ती होने का प्रमाण है।

२. षट्खण्डागम में **गुण** एवं **ठाण** (स्थान) शब्दों के अतिरिक्त **जीवसमास** शब्द का प्रयोग गुणस्थान के अर्थ में हुआ है। किन्तु जीव के एकेन्द्रियादि भेदों के लिए न तो 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग किया गया है, न 'जीवस्थान' का और न 'जीवनिकाय' का।[१५] उक्त जीवभेदों के लिए 'जीवस्थान' (जीवट्ठाण) एवं 'जीवनिकाय' शब्दों का व्यवहार सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है। यह इस बात का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है कि षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द के पूर्व हुई है। (देखिए , अध्याय १० / प्रकरण १ / शीर्षक ४.३)। यतः षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व हुई है और कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शती के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में हुए हैं, अतः सिद्ध है कि षट्खण्डागम उनसे पहले अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध में रचा गया है।

२
विक्रम की पाँचवीं शती के मत का निरसन

डॉ० सागरमल जी ने भी अपनी दोलायमान मनःस्थिति के बीच धरसेन के अनेक काल-विकल्पों में से ई० सन् ५७ (वीर नि० सं० ५८४) भी एक विकल्प स्वीकार किया है। किन्तु , वे इस पर स्थिर नहीं रह सके और षट्खण्डागम का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी घोषित कर दिया। इसका प्रयोजन था षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को तत्त्वार्थसूत्र से उत्तरकालीन सिद्ध करना। क्योंकि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना षट्खण्डागम और कुन्दकुन्दसाहित्य

१५. टीकाकार आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड का नाम 'जीवट्ठाण' (जीवस्थान) रखा है, और वहाँ वह गुणस्थानों तथा मार्गणाओं की अपेक्षा सत्-संख्या आदि रूप से जीवतत्त्व की मीमांसा करनेवाले शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है, जीव के एकेन्द्रियादि चौदह भेदों के अर्थ में नहीं। (देखिए , अध्याय १०/ प्रकरण १/ पादटिप्पणी ४४)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के आधार पर हुई है। इससे तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध होता है। डॉक्टर सा० को यह स्वीकार्य नहीं था। अतः इसे असम्भव साबित करने के लिए उन्होंने दो कपोलकल्पनाओं को जन्म दिया। वे हैं—गुणस्थानसिद्धान्त और सप्तभंगी के विकसित होने की कल्पनाएँ। डॉक्टर सा० का कथन है कि विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी में रचित तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त और सप्तभंगी की चर्चा नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम का निरूपण तो गुणस्थानसिद्धान्त पर ही आधारित है । (जै.ध.या.स./पृ.२४८ - २४९, २५२)। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थानसिद्धान्त विकसित नहीं हुआ था। अतः तत्त्वार्थसूत्र षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती है। तत्त्वार्थसूत्र की रचना विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी में हुई थी, इसलिए षट्खण्डागम का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी घटित होता है। (गुण. सिद्धा.: एक विश्ले./पृ.४)।

डॉक्टर सा० के इस मत की चर्चा विस्तार से **आचार्य कुन्दकुन्द का समय** नामक अध्याय में की जा चुकी है और वहाँ सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि गुणस्थानसिद्धान्त और सप्तभंगीनय के विकसित होने की मान्यता सर्वथा कपोलकल्पित है। ये दोनों सिद्धान्त भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट हैं और गुरु-परम्परा से आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकार को प्राप्त हुए थे। अतः इन्हें तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुआ मानकर षट्खण्डागम तथा समयसार आदि को तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती (विक्रम की छठी शताब्दी का) सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है। तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० है, यह **आचार्य कुन्दकुन्द का समय** नामक अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है। और उसकी रचना षट्खण्डागम तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर हुई है, अतः षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है।

३

षट्खण्डागम के तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन होने के प्रमाण

आचार्य कुन्दकुन्द का समय नामक दशम अध्याय[१६] में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि वे तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती हैं तथा प्रस्तुत अध्याय के इस द्वितीय प्रकरण के शीर्षक क्र. १ के नीचे इस तथ्य के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं कि षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पहले हुई है। इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है। इसकी पुष्टि अन्य अनेक प्रमाणों से भी होती है, जो इस प्रकार हैं—

---

१६. देखिए , अध्याय १०/ प्रकरण १/ शीर्षक ४.१, ४.२, ४.३, ४.४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३.१. तीर्थंकर-प्रकृति-बन्ध के सोलह कारण षट्खण्डागम से

तत्त्वार्थसूत्र में जो तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध के सोलह कारण बतलाये गये हैं, वे षट्-खण्डागम से ही गृहीत हैं, क्योंकि श्वेताम्बर-आगमग्रन्थ **ज्ञातृधर्मकथाङ्ग** में बीस कारणों का वर्णन है। सोलह कारण किसी भी श्वेताम्बरग्रन्थ में निर्दिष्ट नहीं है, **दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम** में ही सर्वप्रथम उनका उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र में उक्त सोलह कारण षट्खण्डागम से ही अनुकृत किये गये हैं, अतः षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है। इन सोलह और बीस कारणों का वर्णन करनेवाले सूत्र इसी अध्याय के चतुर्थप्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ के लेखकमहोदय इस सत्य को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हुए , इसलिए इसका अपलाप करने के लिए उन्होंने कल्पना का सहारा लिया और कहा—"यह भी सम्भव है कि उमास्वाति की उच्च नागर शाखा प्रारम्भ में १६ कारण ही मानती हो।" (जै.ध.या.स./पृ.३३)। और अन्त में वे लिखते हैं—"तीर्थंकरनामकर्म-बन्ध के बीस कारण हैं, यह अवधारणा आगमकाल में नहीं, निर्युक्तिकाल में स्थिर हुई है और वहीं से ज्ञाताधर्मकथा में डाली गयी है।"(जै.ध.या.स./पृ.३३२)।

किन्तु ग्रन्थलेखकमहोदय की उपर्युक्त पहली कल्पना और दूसरी स्थापना प्रमाण प्रस्तुत करने पर ही सत्य सिद्ध हो सकती थीं, जो उन्होंने प्रस्तुत नहीं किये। इससे सिद्ध है कि वे अप्रामाणिक हैं। दूसरे, यह मान भी लिया जाए कि बीस कारणोंवाली अवधारणा निर्युक्तिकाल में स्थिर हुई हो और उसी समय ज्ञाताधर्मकथा में प्रक्षिप्त हुई हो, तथापि किसी भी श्वेताम्बर-आगम में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध के सोलह कारणों का उल्लेख नहीं है। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सोलह कारणों का आधार श्वेताम्बर आगम नहीं हैं, अपितु दिगम्बर-आगमग्रन्थ षट्खण्डागम है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि **तत्त्वार्थसूत्र** के अनेक सूत्रों की रचना षट्खण्डागम के आधार पर हुई है। (देखिये, अगले शीर्षक)।

३.२. गुणश्रेणीनिर्जरा के दस स्थान षट्खण्डागम से

तत्त्वार्थसूत्र (९/४५) में गुणश्रेणिनिर्जरा के जिन दस स्थानों का निर्देश है, वे भी षट्खण्डागम से ही ग्रहण किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बरपरम्परा के किसी भी आगमग्रन्थ में इनका वर्णन नहीं है।

श्वेताम्बर-आचारांगनिर्युक्ति में गुणश्रेणिनिर्जरा-प्रतिपादक **'सम्मत्तुप्पत्ती सावए'** इत्यादि दो गाथाएँ मिलती हैं, वे भी षट्खण्डागम से ही अपनायी गयी हैं। इसका विस्तार से प्रतिपादन दशम अध्याय के पञ्चम प्रकरण में किया गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३.३. तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों की रचना का आधार षट्खण्डागम

तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्रों के बीज भी श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। **तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय** में भी इनके बीज 'नन्दिसूत्र' और 'अनुयोगद्वार' में बतलाये गये हैं। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों की रचना पाँचवी शताब्दी ई० में हुई है। अतः ये सूत्र तत्त्वार्थसूत्र से ही इन ग्रन्थों में पहुँचे हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय में द्रष्टव्य है। तत्त्वार्थसूत्र प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० की रचना है और षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध की। अतः स्पष्ट है कि ये सूत्र षट्खण्डागम के सूत्रों के आधार पर ही रचे गये हैं। जानकारी के लिए यहाँ इन सूत्रों के साथ षट्खण्डागम के वे सूत्र भी उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनके आधार पर इनकी रचना हुई है—

१

तत्त्वार्थसूत्र — नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। (१/५)।

षट्खण्डागम — चउव्विहो पयडिणिक्खेवो – णामपयडी, ट्ठवणपयडी, दव्वपयडी, भावपयडी चेदि। (पु.१३ / ५,५,४ / पृ.१९८)।

२

तत्त्वार्थसूत्र — सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च। (१/८)।

षट्खण्डागम — संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पबहुगाणुगमो चेदि। (पु.१ / १,१, ७)।

३

तत्त्वार्थसूत्र — मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। (१/१३)।

षट्खण्डागम — सण्णा सदी मदी चिंता चेदि। एवमाभिणिबोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स अण्णा परूवणा कदा होदि। (पु.१३ / ५,५, ४१-४२)।

४

तत्त्वार्थसूत्र — अवग्रहेहावायधारणाः। (१/१५)।

षट्खण्डागम — चउव्विहं ताव ओग्गहावरणीयं ईहावरणीयं अवायावरणीयं धारणावरणीयं चेदि। (पु.१३ / ५,५,२३)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

५

तत्त्वार्थसूत्र — अर्थस्य (१/१७)। व्यञ्जनस्यावग्रहः। (१/१८)।

षट्खण्डागम — जं तं ओग्गहावरणीयं णाम कम्मं तं दुविहं अत्थोग्गहावरणीयं चेव वंजणोग्गहावरणीयं चेव। (पु.१३/५,५,२४)।

६

तत्त्वार्थसूत्र — न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। (१/१९)।

षट्खण्डागम — जं तं वंजणोग्गहावरणीयं णाम कम्मं तं चउव्विहं सोदिंदिय-वंजणोग्गहावरणीयं घाणिंदियवंजणोग्गहावरणीयं जिब्भिंदिय-वंजणोग्गहावरणीयं फासिंदियवंजणोग्गहावरणीयं चेव। (पु.१३/५,५,२६)।

७

तत्त्वार्थसूत्र — तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। (१/१४)।

षट्खण्डागम — चक्खिंदियअत्थोग्गहावरणीयं सोदिंदियअत्थोग्गहावरणीयं घाणिंदियअत्थोग्गहावरणीयं जिब्भदिंयअत्थोग्गहावरणीयं फासिं-दियअत्थोग्गहावरणीयं णोइंदियअत्थोग्गहावरणीयं। तं सव्वं अत्थोग्गहावरणीयं णाम कम्मं। (पु.१३/५,५,२८)।

८

तत्त्वार्थसूत्र — भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् (१/२१)।

षट्खण्डागम — जं तं भवपच्चइयं तं देवणेरइयाणं। (पु.१३/५,५,५४)।

९

तत्त्वार्थसूत्र — सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। (१/२९)।

षट्खण्डागम — सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति। (पु.१३/५,५,८२)।

षट्खण्डागम के इन सूत्रों का संक्षिप्तीकरण कर 'तत्त्वार्थ' के उपर्युक्त सूत्रों की रचना की गई है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३.४. षट्खण्डागम के भावानुयोगद्वार का तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेपीकरण

तत्त्वार्थसूत्र (२/१-७) में जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पाँच भावों का कथन किया गया है तथा आगे क्रमशः उनके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद भी बतलाये गये हैं। श्वेताम्बर-आगमों में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। **तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय** (२/१-७/पृ.२९-३३) में इनको **अनुयोगद्वार** के षट्भाषाधिकार-गत विस्तृत गद्यात्मक वर्णनों से समन्वित करने की चेष्टा की गयी है। किन्तु जैसा कि पूर्व में कहा गया है, 'अनुयोगद्वार' ग्रन्थ पाँचवीं शती ई० की रचना है, अतः वह उक्त सूत्रों का आधार नहीं हो सकता। षट्खण्डागम के विशेषज्ञ पं० बालचन्द्र जी शास्त्री अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **षट्खण्डागम-परिशीलन** में लिखते हैं—

"षट्खण्डागम में जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में सातवाँ एक स्वतन्त्र भावानुयोगद्वार है। उसमें ओघ और आदेश की अपेक्षा उन भावों (औपशमिकादि पाँच भावों) की प्ररूपणा पृथक्-पृथक् विस्तार से की गई है। ओघ से जैसे-मिथ्यादृष्टि को औदयिक, सासादनसम्यग्दृष्टि को पारिणामिक, सम्यग्मिथ्यादृष्टि को क्षायोपशमिक, असंयम को औदयिक, संयमासंयम आदि तीन को क्षायोपशमिक, चार उपशामकों को औपशमिक तथा चार क्षपकों और सयोग-अयोग केवलियों को क्षायिकभाव कहा गया है।[१७]

"इसी प्रकार से आगे आदेश की अपेक्षा यथाक्रम से गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं में भी उन भावों की प्ररूपणा की गई है।

"इस प्रकार ष० खं० के उस भावानुयोगद्वार में पृथक्-पृथक् एक-एक भाव को लेकर विशदता की दृष्टि से प्रश्नोत्तर शैली में जिन भावों की विस्तार से प्ररूपणा की गई है, वे सभी भाव संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्र के उन सूत्रों (२/१-७) में अन्तर्भूत हैं।

"इस स्थिति को देखते हुए यदि यह कहा जाय कि ष० खं० के उस भावानुयोगद्वार का तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेपीकरण किया गया है, तो असंगत नहीं होगा।" (षट्. परि. / पृ.१६७-१६८)।

आदरणीय पण्डित जी का यह निष्कर्ष सर्वथा युक्तिसंगत है।

---

१७. षट्खण्डागम / पु.५ / १,७,१-९ / पृ.१८३-२०५ (क्षुद्रकबन्ध खण्ड के अन्तर्गत 'स्वामित्व' अनुयोगद्वार भी द्रष्टव्य है, षट्खण्डागम / पु. ७/२,१, ३-९१ / पृ.७-११३)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३.५. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान षट्खण्डागम से

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गुणस्थानों के नाम श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं हैं। समवायांग में उपलब्ध हैं, किन्तु श्वेताम्बर विद्वानों ने उन्हें प्रक्षिप्त माना है। अतः यह निर्विवाद है कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गुणस्थानों का आगमिक आधार षट्खण्डागम ही है।

३.६. षट्खण्डागम की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में नयविकास

दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत, इन सात नयों का उल्लेख है। श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में प्रथमतः नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों का नामनिर्देश करके आद्य नय के दो और शब्द नय के तीन भेद बतलाये गये हैं। इसे भाष्य में स्पष्ट करते हुए 'आद्य' से नैगमनय को ग्रहण कर उसके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी इन दो भेदों का तथा 'शब्द' के साम्प्रत, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन भेदों का निर्देश किया गया है।[१८]

किन्तु षट्खण्डागम में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों के अनुसार ही वर्णन मिलता है, शब्दनय के भेदभूत समभिरूढ और एवंभूत, इन दो नयों का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता (षट्.परि./ पृ.१६६-१६७)। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में नयों का विकास हुआ है, अतः षट्खण्डागम उससे पूर्व की रचना है।

३.७. षट्खण्डागम की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादनशैली का विकास

षट्खण्डागम (पु.१२/४, २, ८ सूत्र २-११) में निम्नलिखित भावों को सामान्य रूप से आठों कर्मों के बन्ध का प्रत्यय बतलाया गया है : प्राणातिपात आदि पाँच पाप, रात्रिभोजन, क्रोधादि चार कषाय, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान (प्रस्थ आदि माप के उपकरण), मेय (मापे जाने योग्य गेहूँ आदि), मोष (चोरी), मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग।

तत्त्वार्थसूत्र (६/१०-२७) में इन भावों को इसी रूप में बन्ध का प्रत्यय निरूपित नहीं किया गया, अपितु इनसे जो ज्ञानादि के प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, केवलिश्रुतसंघ के अवर्णवाद आदि की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न कर्मों के तीव्रस्थिति-अनुभाग पूर्वक बन्ध का प्रत्यय बतलाया गया है। इससे यह सरलतया

---

१८. "आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह। स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति। शब्दस्त्रिभेदः साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १ / ३५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से समझ में आ जाता है कि किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ किस कर्म के प्रमुखतया बन्ध का कारण हैं (षट्. परि./पृ.१७७)। यह विभेदीकृत एवं सरलीकृत स्पष्टीकरण प्रतिपादनशैली के विकास का सूचक है, जो तत्त्वार्थसूत्र को षट्खण्डागम से परवर्ती साबित करता है।

ये विभिन्न प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से पूर्व की रचना है। इससे यह निर्णय आसानी से हो जाता है कि यतः तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी ई० का पूर्वार्ध है, अतः षट्खण्डागम की रचना उससे पूर्व हुई है। और यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में हुए आचार्य कुन्दकुन्द से भी पहले रचा गया है, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि वह ईसापूर्व प्रथम शती की रचना है।

४

षट्खण्डागम की रचना यापनीयसंघोत्पत्ति से बहुत पहले

षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचा गया था और **यापनीय संघ का इतिहास** नामक सप्तम अध्याय में सिद्ध किया गया है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी। इसलिए उससे लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, इन तीनों के यापनीय-आचार्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता तथा यापनीयपूर्व-उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ कपोलकल्पित है, अतः उसका आचार्य होना भी बन्ध्यापुत्र के समान असंभव है। अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि ये तीनों मूलसंघ के अर्थात् दिगम्बर-जैन-परम्परा के आचार्य थे, इसलिए इनके द्वारा उपदिष्ट और रचित षट्खण्डागम में स्त्रीमुक्ति के विधान की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसमें संयतगुणस्थान का प्रतिपादन भावमानुषी के लिए किया गया है, द्रव्यमानुषी के लिए नहीं। तथा श्वेताम्बरग्रन्थ **प्रज्ञापना** और दिगम्बरग्रन्थ **षट्खण्डागम** में जो समान गाथाएँ हैं, वे इन दोनों परम्पराओं को अपने मूलस्रोत ऐकान्तिक अचेलमुक्तिवादी मूलसंघ से प्राप्त हुई हैं। और छठी शती ई० में रचित श्वेताम्बरीय **आवश्यकनिर्युक्ति** से साम्य रखनेवाली गाथाएँ षट्खण्डागम से ही आवश्यकनिर्युक्ति में पहुँची है, क्योंकि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचित षट्खण्डागम में छठी शताब्दी ई० में रची गयी आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं का आना असम्भव है।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तृतीय प्रकरण

यापनीयपक्षधर हेतुओं की असत्यता एवं हेत्वाभासता

जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ के लेखक ने आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को स्वकल्पित उत्तरभारतीय सचेलाचेल निग्रन्थ परम्परा या यापनीय-परम्परा का आचार्य सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, उनमें से कुछ तो असत्य हैं अर्थात् उनका अस्तित्व ही नहीं है। और शेष हेत्वाभास हैं अर्थात् वे भले ही हेतु जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु हेतु नहीं हैं, अहेतु हैं। यद्यपि जिसका अस्तित्व नहीं है, वह भी स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, तथापि उसकी असत्यता का त्वरित बोध कराने के लिए उसे 'असत्य' विशेषण से ही प्रस्तुत ग्रन्थ में अभिहित किया जा रहा है। उक्त हेतुओं में से कौन असत्य है और कौन हेत्वाभास है। इसका निर्णय आगे प्रस्तुत है, यापनीयपक्ष-समर्थक हेतु का निर्देश **यापनीयपक्ष** शीर्षक के नीचे तथा उसकी असत्यता या हेत्वाभासता का प्रकाशन **दिगम्बरपक्ष** शीर्षक के नीचे द्रष्टव्य है।

१

दिगम्बरपट्टावली में नाम न होना दिगम्बर न होने का हेतु नहीं

यापनीयपक्ष

यापनीय पक्षधर विद्वान् लिखते हैं—"इतना तो निश्चित है कि धरसेन मूलसंघीय दिगम्बर-परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य रहे हैं। तिलोयपण्णत्ती, हरिवंशपुराण और अभिलेखीय पट्टावली[१९] में धरसेन का नामोल्लेख न होना भी यह सूचित करता है कि या तो वे किसी भिन्न परम्परा के थे या फिर इनमें सूचित आचार्यों से पर्याप्त परवर्ती हैं।" (जै.ध.या.स./ पृ. ९२)।

दिगम्बरपक्ष

कुन्दकुन्द, स्वामिकुमार, समन्तभद्र, पूज्यपादस्वामी जैसे सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्यों के नाम भी तिलोयपण्णत्ती और हरिवंशपुराण में निर्दिष्ट आचार्यपरम्परा में नहीं मिलते, पर इनके दिगम्बर होने में उक्त यापनीयपक्षधर ग्रन्थलेखक को भी सन्देह नहीं है। अतः दिगम्बर-ग्रन्थोल्लिखित पट्टावलियों में धरसेन के नाम का निर्देश न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि वे दिगम्बर नहीं थे। फलस्वरूप धरसेन को दिगम्बरपरम्परा

---

१९. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग १ / ले. क्र.१ एवं १०५।

का आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु, हेतु नहीं, हेत्वाभास है।

तथा उक्त ग्रन्थलेखक दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन के नाम का अभाव बतलाते समय यह भूल गये कि उनका नाम श्वेताम्बरीय और यापनीय-पट्टावलियों में भी नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्वयं स्वीकार किया है कि "कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से हमें धरसेन के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती।" (जै.ध.या.स./ पृ.९०)। और यापनीयसम्प्रदाय की कोई स्वतन्त्र पट्टावली उपलब्ध नहीं है। वे श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे, अतः श्वेताम्बर-स्थविरावलियों की आचार्य-परम्परा ही उनकी आचार्यपरम्परा थी। तथा इसी आचार्यपरम्परा को ग्रन्थलेखकमहोदय ने स्वकल्पित उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा बतलाया है। उसमें भी धरसेन का नाम उपलब्ध नहीं है। अतः ग्रन्थलेखक के ही तर्क के अनुसार सिद्ध होता है कि धरसेन न तो श्वेताम्बरपरम्परा के आचार्य थे, न उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ परम्परा के, न ही यापनीयपरम्परा के। अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से वे दिगम्बरपरम्परा के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।

२

दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन का नाम उपलब्ध भी है

तथा दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली, इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतार', विबुधश्रीधरकृत 'श्रुतावतार' एवं धवलाटीका में धरसेन के नाम का उल्लेख भी है। उपर्युक्त ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी ने दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली की प्रामाणिकता में पहले सन्देह व्यक्त किया, किन्तु आगे चलकर उसमें धरसेन के नामोल्लेख को स्वीकार कर उनके वीर नि० सं० ५८४ में दीक्षित और स्वकल्पित उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य होने की संभावना व्यक्त की है। (जै.ध.या.स./पृ.९२)। तथा उसके बाद इसी पट्टावली को यापनीयसंघ की पट्टावली घोषित कर उसे धरसेन के यापनीय होनेका प्रमाण मान लिया है। उनके निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—"पुनः जिस नन्दीसंघ की पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नन्दीसंघ भी यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहा है। कणप (कडब) के शक संवत् ७३५, ईस्वी सन् ८१२ के एक अभिलेख में **श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्ष-मूलगण** ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यापनीय और नन्दीसंघ की इस एकरूपता और नन्दीसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।" (जै.ध.या.स./पृ.९३)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु, हेतु नहीं, हेत्वाभास है।

तथा उक्त ग्रन्थलेखक दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन के नाम का अभाव बतलाते समय यह भूल गये कि उनका नाम श्वेताम्बरीय और यापनीय-पट्टावलियों में भी नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्वयं स्वीकार किया है कि "कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से हमें धरसेन के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती।" (जै.ध.या.स./ पृ.९०)। और यापनीयसम्प्रदाय की कोई स्वतन्त्र पट्टावली उपलब्ध नहीं है। वे श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे, अतः श्वेताम्बर-स्थविरावलियों की आचार्य-परम्परा ही उनकी आचार्यपरम्परा थी। तथा इसी आचार्यपरम्परा को ग्रन्थलेखकमहोदय ने स्वकल्पित उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा बतलाया है। उसमें भी धरसेन का नाम उपलब्ध नहीं है। अतः ग्रन्थलेखक के ही तर्क के अनुसार सिद्ध होता है कि धरसेन न तो श्वेताम्बरपरम्परा के आचार्य थे, न उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ परम्परा के, न ही यापनीयपरम्परा के। अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से वे दिगम्बरपरम्परा के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।

२

दिगम्बरपट्टावलियों में धरसेन का नाम उपलब्ध भी है

तथा दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली, इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतार', विबुधश्रीधरकृत 'श्रुतावतार' एवं धवलाटीका में धरसेन के नाम का उल्लेख भी है। उपर्युक्त ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी ने दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली की प्रामाणिकता में पहले सन्देह व्यक्त किया, किन्तु आगे चलकर उसमें धरसेन के नामोल्लेख को स्वीकार कर उनके वीर नि० सं० ५८४ में दीक्षित और स्वकल्पित उत्तरभारतीय-अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य होने की संभावना व्यक्त की है। (जै.ध.या.स./पृ.९२)। तथा उसके बाद इसी पट्टावली को यापनीयसंघ की पट्टावली घोषित कर उसे धरसेन के यापनीय होनेका प्रमाण मान लिया है। उनके निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—"पुनः जिस नन्दीसंघ की पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नन्दीसंघ भी यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहा है। कणप (कडब) के शक संवत् ७३५, ईस्वी सन् ८१२ के एक अभिलेख में **श्रीयापनीय-नन्द्रिसंघ-पुन्नागवृक्ष-मूलगण** ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यापनीय और नन्दीसंघ की इस एकरूपता और नन्दीसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।" (जै.ध.या.स./पृ.९३)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३

नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीय-पट्टावली नहीं

यापनीयपक्ष

पूर्वोद्धृत वक्तव्य में यापनीयपक्षधर विद्वान् ने कहा है कि नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली यापनीयसंघ की पट्टावली है। उसमें धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि वे यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं। (जै.ध.या.स./ पृ.९३)।

दिगम्बरपक्ष

उपर्युक्त पट्टावली मूलसंघीय-नन्दीसंघ की अर्थात् दिगम्बरनन्दिसंघ की ही है, यापनीयनन्दिसंघ की नहीं, क्योंकि उसमें नन्दीसंघ के साथ मूलसंघ का उल्लेख है। यथा—"**श्रीमूलसङ्घप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे।**" (श्लोक २, The Indian Antiquary, Vol.XX, p.344)। प्रथमशुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली में भी कहा गया है कि मूलसंघ में नन्दीसंघ उत्पन्न हुआ था—"**श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घः।**" (श्लोक २/ ती. म.अ.प./ खं.४/ पृ.३९३)। यापनीय-नन्दिसंघ या यापनीय-पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ सर्वत्र 'यापनीय' विशेषण का प्रयोग हुआ है। यथा—

१. "**श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणे** ---।"

जै.शि.सं./ मा.च./ भा.२/ कडब ले.क्र.१२४।

२. "**श्रीयापनीयसंघद पुन्नागवृक्षमूलगणद** ---।"

जै.शि.सं./ भा.ज्ञा./ भा.४/ हूलि ले.क्र.१३०।

यतः नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में नन्दीसंघ को मूलसंघ के ही अन्तर्गत बतलाया गया है, अतः सिद्ध है कि वह दिगम्बरसंघ की ही है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्य भी इसके गवाह हैं कि वह दिगम्बरसंघ की ही है—

१. उसमें जितने भी आचार्यों के नाम हैं, वे सब दिगम्बरपरम्परा के आचार्य हैं। उनमें से एक का भी नाम श्वेताम्बर-स्थविरावलियों या यापनीय-आचार्यों की सूची में नहीं मिलता।

२. यापनीयपक्षधर विद्वान् बोटिक शिवभूति को यापनीयसंघ का संस्थापक मानते हैं। उसके दो प्रमुख शिष्य थे : कौण्डिन्य और कोट्टवीर। इनमें से किसी का भी नाम उक्त पट्टावली में नहीं है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** ग्रन्थ के लेखक मानते हैं कि यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति से पूर्व के अर्थात् ई० सन् ८२ से पहले के सभी आचार्य श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृपरम्परा अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा के आचार्य थे। उनके नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट हैं। किन्तु उनमें से एक का भी नाम नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में उपलब्ध नहीं होता।

४. स्वयं यापनीय-नन्दिसंघ से सम्बद्ध पुन्नागवृक्षमूलगण के श्रीकित्याचार्य और उनके अन्वय में हुए कूविलाचार्य, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति आदि[२०] के नाम उसमें अदृश्य हैं।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि नन्दिसंघ की पूर्वोक्त प्राकृतपट्टावली शतप्रतिशत दिगम्बरसंघ की है, यापनीयसंघ की नहीं। अतः उसमें आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नामों का उल्लेख सिद्ध करता है कि वे दिगम्बराचार्य ही थे। इस प्रकार यापनीयपक्षधर विद्वान् द्वारा आचार्य धरसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया यह हेतु भी असत्य है।

४

नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली सर्वथा अप्रामाणिक नहीं

यद्यपि दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में अनेक विसंगतियाँ हैं, तथापि उसमें धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के नामों का निर्देश अप्रामाणिक नहीं है। क्योंकि ये तीनों आचार्य दिगम्बर ही थे, यह इस बात से सिद्ध है कि वीरसेन स्वामी ने धवलाटीका में तथा इन्द्रनन्दी एवं विबुधश्रीधर ने अपने-अपने 'श्रुतावतार' नामक ग्रन्थों में उन्हें दिगम्बराचार्यों की परम्परा में ही दर्शाया है। तथा श्वेताम्बरों और यापनीयों की किसी भी पट्टावली या ग्रन्थ में इनके नामों का उल्लेख नहीं है।

जिस समय धवलाटीका और इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार लिखा गया, उस समय यापनीय सम्प्रदाय अच्छी तरह फलफूल रहा था। यदि ये आचार्य उस सम्प्रदाय के होते, तो उन्हें दिगम्बराचार्य बतलाये जाने पर उनकी ओर से घोर विरोध किया जाता। किन्तु विरोध तो क्या, इन आचार्यों का नाम भी किसी यापनीयग्रन्थ या उस सम्प्रदाय के शिलालेख में उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा उपदिष्ट और रचित षट्खण्डागम ग्रन्थ में जिनसिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे भी यापनीयमत

२०. "... श्रीयापनीयनन्दिसङ्घ-पुन्नागवृक्षमूलगणे श्रीकित्याचार्यान्वये बहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु --- कूविलाचार्य---विजयकीर्ति---अर्ककीर्ति---।" (जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द्र / भा.२ / कडब लेख क्र.१२४ / पृ.१३७)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के प्रतिकूल एवं दिगम्बरमत के अनुकूल हैं। इनके उदाहरण आगे चतुर्थ प्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

इन तथ्यों से यह बात दिन के समान स्पष्ट हो जाती है कि ये तीनों आचार्य दिगम्बर ही थे। अतः नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में इनका उल्लेख सर्वथा प्रामाणिक है।

आश्चर्य यह है कि पूर्वोक्त ग्रन्थलेखक ने यापनीय-स्थविरावलियाँ उपलब्ध न होने तथा श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में धरसेन का नाम न होने पर भी उन्हें यापनीय मान लिया, किन्तु मात्र तिलोयपण्णत्ति आदि दो-तीन दिगम्बरग्रन्थों में नाम न होने से उन्हें दिगम्बर मानने से इनकार कर दिया, जबकि नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतार तथा धवलाटीका की आचार्यपरम्परा में उनका नाम निर्दिष्ट है। जिस दिगम्बरपरम्परा के साहित्य में धरसेन का नाम अनेकत्र उपलब्ध है, उस परम्परा का उन्हें मानने से इनकार कर देना और जिस यापनीयपरम्परा के साहित्य में उनका नाम ढूँढ़े नहीं मिलता, उस परम्परा का उन्हें सिद्ध करना, यह आकाश में कुसुम खिला देने का नैपुण्य 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के मान्य लेखक में ही दिखाई देता है। यह उनके पक्षपातपूर्ण दुहरे मानदण्ड का ज्वलन्त उदाहरण है।

५
धरसेन का एक अस्तित्वहीन संघ का आचार्य होना असंभव

यापनीयपक्ष

दिगम्बरनन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली में उल्लिखित धरसेन के पट्टकाल एवं जोणिपाहुड की बृहट्टिप्पणिका में निर्दिष्ट इस ग्रन्थ के रचनाकाल (वीर नि० सं० ६००) के आधार पर उक्त ग्रन्थलेखक ने माना है कि धरसेन वीर नि० सं० ६०९ के पूर्व अर्थात् यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति के पूर्व दीक्षित हुए थे, अतः वे उस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य रहे होंगे, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय उत्पन्न हुए थे। (जै.ध.या.स. / पृ.९२)।

दिगम्बरपक्ष

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि उत्तरभारत में तो क्या, भारत के किसी भी कोने में ऐसा कोई सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ विद्यमान नहीं था, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय संघों का उद्भव हुआ हो। जम्बूस्वामी के

निर्वाण के पूर्व तक केवल ऐकान्तिक-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थसंघ का ही अस्तित्व था। उसके बाद श्वेतपटसंघ के जन्म से दो संघ हो गये : निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) और श्वेतपटसंघ (श्वेताम्बरसंघ)। पश्चात् एक अर्धफालकसंघ का भी उदय हुआ। इनमें निग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) एकान्त-अचेलमुक्तिवादी था और है तथा श्वेतपट (श्वेताम्बर) और अर्धफालक दोनों संघ सर्वथा सचेलमुक्तिवादी थे। सचेलाचेल-उभयमुक्तिवादी कोई भी श्रमणसंघ नहीं था। उसका उदय ईसा की पाँचवीं शती के आरंभ में हुआ था, जो यापनीयसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वीर नि० सं० ६०९ के पूर्व ऐसे संघ के अस्तित्व की मान्यता सर्वथा कपोलकल्पित है। अतः जिस तथाकथित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व ही नहीं था, धरसेन उस संघ के आचार्य कैसे हो सकते हैं? उस समय यापनीयसंघ का अस्तित्व था नहीं और श्वेताम्बरपरम्परा में धरसेन और उनके षट्खण्डागम का कोई उल्लेख नहीं है, अतः अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि धरसेन दिगम्बरसंघ के ही आचार्य थे।

इस प्रकार सिद्ध है कि आचार्य धरसेन को कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

६
जोणिपाहुड दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ

यापनीयपक्ष

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक का कथन है कि **जोणिपाहुड** ग्रन्थ का उल्लेख श्वेताम्बर-साहित्य में अधिक हुआ है, इससे सिद्ध होता है कि धरसेन उत्तरभारत के सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सम्बद्ध थे। (पृष्ठ ९५)।

दिगम्बरपक्ष

यह ग्रन्थ प्रसिद्ध विद्वान् पं० बेचरदास जी ने स्वयं भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट, पूना में जाकर देखा था और उस पर से परिचय के कुछ नोट्स गुजराती में लिए थे। दिगम्बर-ग्रन्थ होने के कारण उन्होंने बाद को वे नोट्स सदुपयोग के लिए अपने मित्र पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई को दे दिए थे। यह विवरण पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'अनेकान्त' पत्रिका में, १ जुलाई १९३९ के सम्पादकीय में दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि पं० बेचरदास जी ने इस ग्रन्थ का अध्ययन करके पाया था कि यह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। आचार्य धरसेन के दिगम्बर होने का यह श्वेताम्बर विद्वान् द्वारा ही दिया गया प्रमाण है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तथा धरसेन को जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सम्बद्ध कहा गया है, उसका अस्तित्व ही नहीं था, यह द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः धरसेन के उस अवास्तविक परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी बात यह है कि यदि उस परम्परा का अस्तित्व होता और धरसेन का उससे सम्बन्ध होता, तो षट्खण्डागम की रचना का इतिहास भी श्वेताम्बरसाहित्य में उपलब्ध होता। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि उस कपोलकल्पित परम्परा से सम्बद्ध नहीं थे।

यतः 'जोणिपाहुड' श्वेताम्बर नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है तथा धरसेन का जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सम्बन्ध बतलाया गया है, उसका अस्तित्व ही नहीं था, अतः धरसेन को उससे सम्बन्धित सिद्ध करने के लिए उपस्थित किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

७

'पण्णसवण' उपाधि का एक अस्तित्वहीन संघ से सम्बन्ध असंभव

यापनीयपक्ष

भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिटयूट पूना में उपलब्ध 'जोणिपाहुड' की प्रति में उसके कर्त्ता धरसेन को **पण्णसवण** (प्रज्ञाश्रमण) कहा गया है। यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक डॉ० सागरमल जी कहते हैं कि यह श्वेताम्बर-यापनीयों के जनक उत्तर-भारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ में प्रचलित उपाधि थी। (जै.ध.या.स./९५) अतः धरसेन उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य थे।

दिगम्बरपक्ष

किन्तु उक्त संघ का अस्तित्व ही नहीं था, अतः उसके साथ कथित उपाधि का सम्बन्ध असंभव है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थलेखक ने श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं के ग्रन्थों में इस उपाधि के उल्लेख का एक भी प्रमाण नहीं दिया। जो दिये हैं वे दिगम्बरपरम्परा के 'धवला' और 'तिलोयपण्णत्ती' से हैं। श्वेताम्बरग्रन्थ नन्दीसूत्र से **पसण्णमण** शब्द उदाहृत किया है, किन्तु इसका अर्थ तो **प्रसन्नमन** होता है, प्रज्ञाश्रमण नहीं। जिस गाथा में वह आया है, उस पर दृष्टिपात करें—

> णाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
> अज्जं नंदिलखमणं सिरसा वंदे **पसन्नमणं** ॥ ३३॥ नन्दीसूत्र।

अनुवाद—"जो ज्ञान, दर्शन, तप और विनय में सदा संलग्न रहते थे, उन **प्रसन्नमनवाले** (रागद्वेषरहित) आर्य नन्दिल-क्षमण की मैं मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूँ।"

इस गाथा का हिन्दी अनुवाद करने वाले मुनि श्री पारसकुमार जी महाराज सा० ने भी 'प्रसन्नमण' का अर्थ प्रसन्नमनवाले (रागद्वेषरहित अन्तःकरणवाले) किया है।[२१]

इस तरह यहाँ 'पसन्नमण' का अर्थ स्पष्टतः 'प्रसन्नमनवाले' है। किन्तु 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक कहते हैं कि "उसमें वर्णव्यत्यय हुआ है, मेरी दृष्टि में उसे **पण्णसमण** होना चाहिए।" (जै.ध.या.स./ पृ.९५)। इस तरह मान्य ग्रन्थलेखक ने अपनी दृष्टि (स्वाभीष्टमत) आरोपित कर 'पसन्नमण' को 'पण्णसवण' बना दिया और श्वेताम्बरसाहित्य में 'पण्णसवण' उपाधि के प्रयोग का उदाहरण दे दिया। उन्हें श्वेताम्बरसाहित्य में कहीं सही रूप में लिखा 'पण्णसवण' शब्द नहीं मिला। इससे सिद्ध है कि श्वेताम्बर साहित्य में कहीं भी किसी मुनि के लिए 'पण्णसवण' उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ है।

इस प्रकार न तो श्वेताम्बरसाहित्य में 'पण्णसवण' उपाधि का उल्लेख है, न ही उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व था। अतः आचार्य धरसेन को उक्त संघ से सम्बद्ध सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये दोनों हेतु असत्य हैं।

उक्त ग्रन्थलेखक द्वारा दिगम्बरग्रन्थों से दिये उदाहरणों से सिद्ध है कि 'पण्णसवण' (प्रज्ञाश्रमण) एक ऋद्धि का नाम है, जो दिगम्बर ऋषियों को प्राप्त होने पर वे इस उपाधि से प्रसिद्ध किये जाते थे। आचार्य धरसेन इस उपाधि से प्रसिद्ध थे,(ष.खं. / पु.१/ प्रस्ता. / पृ.२५)। अतः सिद्ध है कि वे दिगम्बरपरम्परा से सम्बद्ध थे, अन्य किसी परम्परा से नहीं।

८

शाब्दिक उलटफेर युक्ति-प्रमाणविरुद्ध

यापनीयपक्ष

पूर्वोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि यापनीयपक्षी ग्रन्थलेखक ने शाब्दिक उलटफेर कर **पसन्नमण** को **पण्णसवण** बनाने की कोशिश की है। इसी प्रकार का शाब्दिक उलटफेर करके कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित **पुसगिरि** को **पुष्पदन्त** और **भूतदिन्न** को **भूतबलि** बनाने का उपक्रम किया है। वे लिखते हैं—

२१. नन्दीसूत्र / पृ. २३ / प्रकाशक-अ.भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, म.प्र. / १९८४ ई.।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"मथुरा के हुविष्क वर्ष ४८ के एक अभिलेख में ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के **धर** का उल्लेख है। लेख के आगे के अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका, हो सकता है, पूरा नाम **धरसेन** हो। क्योंकि कल्पसूत्र-स्थविरावली में शान्तिसेन, वज्रसेन आदि सेन-नामान्तक नाम मिलते हैं। अतः इसके धरसेन होने की सम्भावना को निरस्त नहीं किया जा सकता है। इस काल में हमें कल्पसूत्र-स्थविरावली में एक **पुसगिरि** का भी उल्लेख मिलता है, हो सकता है, ये **पुष्पदन्त** हों। इसी प्रकार नन्दीसूत्र-वाचकवंश-स्थविरावली में **भूतदिन्न** का भी उल्लेख है। इनका समीकरण **भूतबलि** से किया जा सकता है।" (जै.ध.या.स./पृ.९६)।

दिगम्बरपक्ष

यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है—

१. श्वेताम्बरीय स्थविरावलियों में पुसगिरि और भूतदिन्न नामों का ही उल्लेख है। पुष्पदन्त और भूतबलि नाम न तो श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में उपलब्ध हैं, न श्वेताम्बर-साहित्य में। अतः पुसगिरि को पुष्पदन्त और भूतदिन्न को भूतबलि मानने का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है।

२. श्वेताम्बरसाहित्य में पुसगिरि और भूतदिन्न के द्वारा षट्खण्डागम की रचना किये जाने का उल्लेख नहीं है। इसलिए इनका षट्खण्डागम के कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध पुष्पदन्त और भूतबलि से एकीकरण करने का कोई आधार नहीं है।

३. शब्दों में इतनी अधिक भिन्नता है कि पुसगिरि से पुष्पदन्त और भूतदिन्न से भूतबलि हो जाने में वर्ण-व्यत्यय की भी कल्पना नहीं की जा सकती। और भाषाविज्ञान का ऐसा कोई नियम है नहीं, जिसके अनुसार **पुसगिरि** के **पु** को छोड़कर शेष वर्णों के स्थान में विकल्प से **पुष्पदन्त** आदेश तथा **भूतदिन्न** के **दिन्न** के स्थान में **बलि** आदेश हो जाता हो। यदि ऐसा नियम होता, तो उसके उदाहरण प्राकृतव्याकरणों में दिये जाते और वे श्वेताम्बरसाहित्य में एक ही व्यक्ति के लिए विकल्प से प्रयुक्त हुए मिलते। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त नामों को एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त मानने का कोई भाषावैज्ञानिक आधार भी नहीं है।

४. शब्दों के अर्थ में भी अत्यन्त भिन्नता है। 'भूतदिन्न' का अर्थ है 'भूतदत्त' अर्थात् 'भूतों के द्वारा दिया हुआ।' और भूतबलि का अर्थ है 'भूतों ने जिसकी पूजा की।' प्रथम शब्द के अर्थानुसार मनुष्य के द्वारा भूत पूजनीय है, दूसरे शब्द के अर्थानुसार भूतों के द्वारा मनुष्य पूजनीय है। इस तरह अर्थ की दृष्टि से भी जो शब्द परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, वे एक ही व्यक्ति के वाचक नहीं हो सकते।

५. दिगम्बरसाहित्य में भूतबलि और पुष्पदन्त के मौलिक नाम क्रमशः नरवाहन और सुबुद्धि बतलाये गये हैं।[२२] कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों में इन नामों को भूतदिन्न और पुसगिरि का मौलिक नाम नहीं बतलाया गया है। इससे भी उनका एकीकरण युक्तिसंगत नहीं है।

६. नन्दीसूत्र के भूतदिन्न नागार्जुन ऋषि के शिष्य हैं,[२३] जबकि भूतबलि धरसेनाचार्य के। इससे बिलकुल स्पष्ट है कि दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं।

७. यदि पुसगिरि और भूतदिन्न षट्खण्डागम के कर्त्ता होते, तो षट्खण्डागम के कर्त्ताओं के रूप में ये ही नाम प्रसिद्ध होते, क्योंकि श्वेताम्बर स्थविरावलियों में ये ही नाम सुरक्षित हैं। और यदि श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा में उनके स्थान पर पुष्पदन्त और भूतबलि नाम चल पड़े होते, तो वे श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में अवश्य आते। ऐसा नहीं हुआ, इससे स्पष्ट है कि पुसगिरि और भूतदिन्न का षट्खण्डागम के कर्त्ता पुष्पदन्त और भूतबलि से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

८. हुविष्क के शिलालेख में जो **धर** शब्द का उल्लेख है, वह यदि षट्खण्डागम के उपदेष्टा धरसेन का उल्लेख होता, तो श्वेताम्बरीय-स्थविरावलियों में भी धरसेन का नाम आता और श्वेताम्बरसाहित्य में उनके द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि को षट्खण्डागम की विषयवस्तु का उपदेश दिये जाने का भी उल्लेख अवश्य होता। किन्तु ऐसा नहीं है, इससे स्पष्ट है कि शिलालेख के **धर** को धरसेन और वह भी षट्खण्डागम का उपदेष्टा मानना सर्वथा निराधार है।

इन युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध होता है कि हुविष्क के अभिलेख में उत्कीर्ण **धर** धरसेन नहीं हैं और श्वेताम्बर स्थविरावलियों में उल्लिखित पुसगिरि और भूतदिन्न पुष्पदन्त और भूतबलि नहीं हैं। 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने शब्दों का उलटफेर कर असत्य हेतु के द्वारा षट्खण्डागम के कर्त्ताओं को श्वेताम्बरीय स्थविरावलियों में उल्लिखित सिद्ध करने की चेष्टा की है, जिससे उन्हें स्वकल्पित श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का आचार्य सिद्ध किया जा सके। यह उनके स्वाभीष्ट शब्दारोपणरूप छलवाद के द्वारा दिगम्बरग्रन्थों को यापनीय ग्रन्थ सिद्ध करने का ज्वलन्त उदाहरण है।

---

२२. "भूतबलिप्रभावाद् भूतबलिनामा नरवाहनो मुनिर्भविष्यति। समदन्तचतुष्टयप्रभावात् सद्बुद्धिः पुष्पदन्तनामा मुनिर्भविष्यति।" (चार समान दाँतों के प्रभाव से सद्बुद्धि)-विबुधश्रीधर-श्रुतावतार।

२३. जगभूयहियप्पगब्भे वन्देऽहं भूयदिन्नमायरिए।
भवभयबुच्छेयकरे सीसे नागज्जुणरिसीणं॥ ४५॥ नन्दीसूत्र।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

९

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उत्तराधिकारी दिगम्बर और श्वेताम्बर

यापनीयपक्ष

पूर्वोक्त ग्रन्थ के लेखक लिखते हैं "यह स्पष्ट है कि धरसेन ने षट्खण्डागम की रचना नहीं की थी, उन्होंने तो मात्र पुष्पदन्त और भूतबलि को **महाकर्मप्रकृतिप्राभृत** का अध्ययन कराया था। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत भी उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थपरम्परा में ही निर्मित हुआ था। --- वस्तुतः यही कर्मप्रकृतिशास्त्र आगे चलकर श्वेताम्बर-परम्परा में शिवशर्म द्वारा रचित कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों का और यापनीयपरम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम का आधार बना है। चूँकि यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही इस परम्परा के उत्तराधिकारी थे, अतः यह स्वाभाविक ही था कि दोनों परम्पराओं में इस कर्मप्रकृतिशास्त्र के आधार पर ग्रन्थरचनाएँ हुईं। अतः धरसेन उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।" (जै.ध.या.स./पृ.९७)।

दिगम्बरपक्ष

यह सिद्ध किया जा चुका है कि श्वेताम्बर-यापनीयों की मातृभूत उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा नाम की कोई परम्परा ही नहीं थी। वह 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक की मनःकल्पित सृष्टि है। अतः धरसेन का अविद्यमान परम्परा से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बरपरम्परा के ही आचार्य थे।

उत्तरभारत के एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-मूल-निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन होने पर केवल श्वेताम्बर शाखा उत्पन्न हुई थी, न कि श्वेताम्बर और यापनीय दो शाखाएँ। निर्ग्रन्थसंघ पूर्ववत् विद्यमान रहा, अतः श्वेताम्बरसंघ का जन्म होने पर दो संघ हो गये : निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) और श्वेताम्बरसंघ। यह विभाजन अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् वीरनिर्वाण सं० ६२ (४६५ ई० पू०) में हुआ था। यापनीयसंघ की उत्पत्ति इस संघविभाजन से लगभग ८८५ वर्ष बाद (पाँचवीं शताब्दी ई० में) श्वेताम्बरसंघ से दक्षिणभारत में हुई थी। अतः उत्तरभारतीय एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थसंघ में रचित **महाकर्मप्रकृतिप्राभृत** के अधिकारी स्वयं यह निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) एवं श्वेताम्बरसंघ थे, यापनीयसंघ नहीं।

पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य धरसेन के साक्षात् शिष्य थे, अतः समकालीन थे। इसलिए जब गुरु यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध नहीं थे, तब उनके शिष्य कैसे हो सकते हैं? वस्तुतः उस समय यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। अतः

सिद्ध है कि पुष्पदन्त और भूतबलि दिगम्बर ही थे। इस प्रकार धरसेन को उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का तथा पुष्पदन्त और भूतबलि को यापनीयपरम्परा का आचार्य सिद्ध करने के लिए दर्शाया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

१०

समानगाथाएँ एकान्त-अचेलमुक्तिवादी मूलसंघ की सम्पत्ति

यापनीयपक्ष

षट्खण्डागम की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्रज्ञापनासूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं। इस विषय में **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** ग्रन्थ के लेखक का कथन है कि प्रज्ञापना और षट्खण्डागम में विषयवस्तु और शैली का साम्य है। वह यही सूचित करता है कि दोनों के विकास का मूलस्रोत एक ही परम्परा है। (पृ.१०४)। वे इसके पूर्व लिखते हैं कि जिस प्रकार प्रज्ञापना में निर्युक्तियों की अनेक गाथाएँ हैं, उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी निर्युक्तियों की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, इससे ज्ञात होता है कि दोनों किसी समान परम्परा से ही विकसित हुए हैं। (पृ.१०३)। वे अंत में लिखते हैं—"यह सत्य है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही उत्तरभारत की निर्ग्रन्थपरम्परा के समानरूप से उत्तराधिकारी रहे हैं और इसीलिए दोनों की आगमिक परम्परा एक ही है तथा यही उनके आगमिक ग्रन्थों की निकटता का कारण है।" (पृ.१०४)। और इस आधार पर ग्रन्थलेखक तय करते हैं कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। (पृ.१०४)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य ग्रन्थलेखक का यह कथन सत्य है कि षट्खण्डागम तथा प्रज्ञापना दोनों ग्रन्थों के विकास का मूलस्रोत एक ही परम्परा है, इसीलिए दोनों में विषयवस्तु का साम्य है। किन्तु यह कथन सत्य नहीं है कि वह परम्परा सचेलाचेल-मुक्तिवादी थी और उस परम्परा के उत्तराधिकारी श्वेताम्बर और यापनीय थे। वह एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थपरम्परा थी और उससे निकला श्वेताम्बरसंघ ही उस परम्परा के साहित्य का दूसरा समानाधिकारी था, यापनीयसंघ नहीं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति उस परम्परा से हुई ही नहीं थी, यह पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। इस कारण एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् दिगम्बरपरम्परा और श्वेताम्बरसंघ के साहित्य में बहुशः साम्य उपलब्ध होता है। अतः षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र में जो विषयवस्तु की समानता है, उससे षट्खण्डागम दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है, यापनीयपरम्परा का नहीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यतः जिस मूलपरम्परा से षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र विकसित हुए हैं, वह सचेलाचेलमुक्तिवादी नहीं थी, अतः इन ग्रन्थों को इस परम्परा से विकसित सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

११
दिगम्बरग्रन्थों की गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों में

दिगम्बरग्रन्थ **षट्खण्डागम** में **प्रज्ञापनासूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यक-भाष्य** आदि श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से साम्य रखनेवाली गाथाएँ मिलती हैं। इससे यह भ्रम हो सकता है कि वे इन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से षट्खण्डागम में ली गयी हैं। यह भ्रम उपर्युक्त ग्रन्थों के रचनाकाल की पूर्वापरता पर दृष्टि डालने से दूर हो जाता है। पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी। डॉ० सागरमल जी ने प्रज्ञापनासूत्र का रचनाकाल भी ईसापूर्व प्रथम शती बतलाया है। (जै.ध.या.सं. / पृ.१०४)। अतः इन दोनों में जो समान गाथाएँ हैं, वे एक-दूसरे से गृहीत नहीं है, अपितु दोनों को अपनी एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-मूल-निर्ग्रन्थपरम्परा से प्राप्त हुई हैं।

किन्तु जो समान गाथाएँ प्रज्ञापनासूत्र में नहीं हैं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम और श्वेताम्बरग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य आदि में हैं, वे निश्चित ही षट्खण्डागम से इन ग्रन्थों में पहुँची हैं, क्योंकि जहाँ षट्खण्डागम का रचनाकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध है, वहाँ आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल क्रमशः वि० सं० ५६२ (५०५ ई०)[२४] तथा वि० सं० ६६० (६०३ ई०)[२५] है। यह स्वतः सिद्ध है कि षट्खण्डागम के रचनाकाल से ५००-६०० वर्षों के बाद रचे गये ग्रन्थों की गाथाएँ षट्खण्डागम में नहीं पहुँच सकतीं।

अतः षट्खण्डागम और श्वेताम्बरग्रन्थों की अनेकगाथाओं में साम्य होने से यह सिद्ध नहीं होता कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का अथवा श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज बतलायी जानेवाली कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ है।

जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमणकृत **बृहत्संग्रहणी** में भी **तिलोयपण्णत्ती** आदि दिगम्बर-ग्रन्थों की गाथाएँ ग्रहण की गई हैं और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ **आतुरप्रत्या-**

---

२४. श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृ.४३८।
२५. वही / पृष्ठ ४६१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ख्यान, भक्तपरिज्ञा आदि **प्रकीर्णक** ग्रन्थों में संगृहीत हैं।[२६] माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री '**जैन साहित्य का इतिहास**' (भाग २) में लिखते हैं—

"दिगम्बरपरम्परा में एक मूलाचार नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका उल्लेख तिलोय-पण्णत्ति में मिलता है और उससे उसमें कुछ गाथाएँ भी ली गई हैं, यह पहले बतला आये हैं। मूलाचार के अन्तिम प्रकरण का नाम 'पज्जत्तीसंगहणी' है। इस प्रकरण की अनेक गाथाएँ बृहत्संग्रहणी में संगृहीत हैं। कुछ गाथाएँ तो यथाक्रम पाई जाती हैं। विवरण इस प्रकार है—

"जम्बूद्वीप से लेकर क्रौंचवरद्वीप पर्यन्त सोलह द्वीपों के नाम दोनों ग्रन्थों में दो गाथाओं से बतलाये गये हैं। इन दोनों गाथाओं की क्रमसंख्या मूलाचार में ३३-३४ और संग्रहणी में ८२-८३ है। दोनों में प्रायः समानता है। उसके पश्चात् **मूलाचार** में यह गाथा है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणवित्थडा असंखेज्जा।
एदे दु तिरियलोए सयंभुरमणोदहिं जाव॥ ३५॥

"**संग्रहणी** में यही गाथा थोड़े से पाठभेद को लिए हुए इस प्रकार है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणा दुगुणा भवे असंखेज्जा।
भणिओ य तिरियलोए सयंभुरमणोदही जाव॥ ८५॥

"उक्त दो गाथा और उक्त गाथा के बीच में संग्रहणी में जो ८४ नम्बर की गाथा है, वह मूलाचार में आगे दी है, उसका नम्बर ३६ है। उसके पश्चात् ३८, ३९ और ४० नम्बर की गाथाएँ संग्रहणी में ८७, ८८ और ९० नम्बर पर हैं।

"इस तरह द्वीपसमुद्रों के कथनसम्बन्धी गाथाएँ दोनों संग्रहणियों में प्रायः समान हैं।

"आगे योनियों के कथनसम्बन्धी मूलाचार गाथा ५८-५९ संग्रहणी में ३५८-३५९ नम्बर पर हैं। ६० तथा ३६० नम्बर की गाथा का अर्थ समान होते हुए भी शब्दों में थोड़ा अन्तर पाया जाता है। आगे ६१-६२ तथा ३६१-३६२ गाथाएँ प्रायः समान हैं। मूलाचारकी ६२वीं गाथा के अन्तिम चरण का पाठ है—'**सेसा सेसेसु जोणीसु**'। और संग्रहणी की ३६२वीं गाथा के अन्तिम चरण में पाठ हैं—'**सेसाए सेसगजणो य**'। गोम्मटसार जीवकाण्ड में यह गाथा संग्रहणीवाले पाठ के साथ पाई जाती है।

---

२६. देखिये, 'भगवती-आराधना' नामक अध्याय।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"**मूलाचार** में कुलों को बतलानेवाली १६६ से १६९ तक की चार गाथाएँ इसी क्रम से संग्रहणी में हैं और उनकी क्रमसंख्या ३५३-३५६ तक है। और भी कितनी ही गाथाएँ दोनों ग्रंथों में समान हैं।

"**विशेषावश्यकभाष्यकार जिनभद्रगणी** सातवीं शताब्दी में हुए हैं। **तिलोय-पण्णत्ति** की रचना उससे बहुत पहले हो चुकी थी और तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार का निर्देश है तथा उससे कुछ गाथाएँ भी ली गई हैं। अतः मूलाचार ति० प० से भी प्राचीन है। अतः संग्रहणी में उक्त गाथाएँ मूलाचार के अन्त में स्थित 'पज्जत्तीसंगहणी' से ली गई हों, यह संभव है।

"और भी कुछ गाथाएँ संग्रहणी में ऐसी हैं, जो अन्य ग्रंथों में मिलती हैं। संग्रहणी की '**पदमक्खरं पि इक्कं**' आदि १६७वीं गाथा भगवती-आराधना की ३९वीं गाथा है और '**सुत्तं गणहररइयं**' आदि १६८वीं गाथा भ. आराधना की ३४वीं गाथा है। अन्तर केवल इतना है कि उसमें **रइयं** के स्थान पर **गथिदं** और **कहियं** पाठ है। **कहिदं** पाठ के साथ यही गाथा मूलाचार के पञ्चाचाराधिकार (२७७) में भी पाई जाती हैं। फिर संग्रहणी में ये दोनों गाथाएँ बिना किसी प्रकरण के स्वर्गों में उपपाद के प्रकरण में संगृहीत की गई हैं। अतः निश्चय ही इन्हें अन्यत्र से लिया गया है। भगवती-आराधना तिलोयपण्णत्ति से भी प्राचीन है।

"इसी तरह '**पुव्वस्स उ परिमाणं**' आदि ३१६वीं गाथा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि (३/३१/४२६/१६८/११) में उद्धृत है। और पूज्यपाद ५-६वीं शती के आचार्य हैं। अतः यह गाथा प्राचीन होनी चाहिये। संग्रहणी में पहली पृथिवी की स्थिति बतलाकर शेष पृथिवियों में स्थिति बतलाने के लिए एक करणसूत्र दिया है, जो इस प्रकार है—

उवरिखिइठिइविसेसो सगपयरविभाग इत्थ संगुणिओ।
उवरिमखिइठिइसहिओ इच्छियपयरम्मि उक्कोसा॥ २३८॥

"संस्कृत में एक इसी प्रकार का करणसूत्र तत्त्वार्थवार्तिक (३/६) में दिया है, जो उक्त गाथा की छाया-सा जान पड़ता है—

उपरिस्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्ट-संगुणितः।
उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्टप्रतरस्थितिर्महती॥ (पृ.१६८)

"अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक के तीसरे अध्याय में और भी इस प्रकार के प्रमाण उद्धृत किये हैं, जो प्राकृत गाथाओं की छायारूप जान पड़ते हैं, किन्तु उनके मूल का पता नहीं चलता। संभव है उक्त संस्कृतछाया भी उसी ग्रन्थ पर से संगृहीत की गई हो, जिस पर से अन्य प्रमाण संस्कृतछाया-रूप में संकलित किये गये हैं।

"इस तरह संग्रहणी में बहुत-सी गाथाएँ ग्रन्थान्तरों से संगृहीत की गई हैं। इसी से उसकी रचना उतनी सुसम्बद्ध और सुगठित प्रतीत नहीं होती।" (जै.सा.इ. / भा. २/पृ.६७-६९)।

१२
संयतगुणस्थान की प्राप्ति भावस्त्री को

यापनीयपक्ष

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के यापनीयपक्षधर लेखक का कथन है— "षट्खण्डागम के यापनीयपरम्परा से सम्बन्धित होने का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अन्यतम प्रमाण उसमें सत्प्ररूपणा नामक अनुयोगद्वार का ९३ वाँ सूत्र है, जिसमें पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में संयतगुणस्थान की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है, जो प्रकारान्तर से स्त्रीमुक्ति का सूचक है।" (जै.ध.या.स. / पृ.१०१)।

दिगम्बरपक्ष

हम देख चुके हैं कि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की स्थविरावलियों एवं साहित्य में, न तो षट्खण्डागम के कर्त्ताओं धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि के नामों का उल्लेख है, न षट्खण्डागम का, न षट्खण्डागम की रचना के इतिहास का कोई विवरण है, न ही अर्धमागधी प्राकृत में षट्खण्डागम की कोई प्रति उपलब्ध है। तथा षट्खण्डागम की रचना यापनीयसम्प्रदाय के जन्म से लगभग ४५० वर्ष पूर्व हो चुकी थी। ये दो बहिरंग प्रमाण इस बात के पक्के सबूत हैं कि षट्खण्डागम न तो श्वेताम्बर-परम्परा का ग्रन्थ है, न यापनीयपरम्परा का, न इन दोनों की मन:कल्पित मातृपरम्परा (उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा) का।

दूसरी ओर, उक्त आचार्यों के नाम दिगम्बर-पट्टावलियों और दिगम्बरसाहित्य में अनेकत्र उपलब्ध हैं। षट्खण्डागम के कर्त्ताओं के रूप में उनका उल्लेख है और षट्खण्डागम की रचना का इतिहास दिगम्बरसाहित्य में वर्णित है। शौरसेनी प्राकृत में रचित षट्खण्डागम ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रतियाँ मूड़विद्री के दिगम्बरमठ में उपलब्ध हुई हैं। दिगम्बराचार्य वीरसेन ने उस पर टीका लिखी है। सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवर्तिक जैसी टीकाओं में षट्खण्डागम का अनुसरण किया गया है। गोम्मटसार जैसा महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम के ही आधार पर रचा गया है। तथा षट्खण्डागम में प्रतिपादित सिद्धान्त श्वेताम्बरों और यापनीयों की मौलिक मान्यताओं के विरुद्ध हैं, जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है। ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि वह दिगम्बरमत का ही ग्रन्थ है। इसलिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अर्थ दिगम्बरसिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में और दिगम्बरग्रन्थों की भाषाशैली के अनुसार ही ग्रहण किया जाना चाहिए। किन्तु 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने इस दिगम्बरग्रन्थ में प्रयुक्त **मणुसिणी** शब्द का अर्थ इसके कर्त्ताओं के अभिप्राय के अनुसार ग्रहण न कर अपनी श्वेताम्बरीय और यापनीय-मान्यताओं के अनुसार ग्रहण किया है अर्थात् **मणुसिणी** शब्द पर स्वाभीष्ट अर्थ का आरोपण किया है।

दिगम्बरवाङ्मय में **मणुसिणी** शब्द द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थान तक उसका प्रयोग द्रव्यस्त्री (शरीर से स्त्री) और भावस्त्री (शरीर से पुरुष और भाव से स्त्री) दोनों के अर्थ में किया गया है और छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक केवल भावस्त्री के अर्थ में। भावस्त्री उसे कहते हैं जो शरीर से पुरुष, किन्तु भाव से स्त्री होता है, अर्थात् पुरुष में स्त्रीवेदनामक नोकषाय का उदय उसकी **भावस्त्री** संज्ञा का कारण होता है। ऐसी **मणुसिणी** (भावस्त्री) को ही संयतगुणस्थान की प्राप्ति के योग्य बतलाया गया है।[२७]

किन्तु उक्त ग्रन्थ के लेखक ने अपने मतानुसार षट्खंडागम में प्रयुक्त **मणुसिणी** शब्द को केवल द्रव्यस्त्री का वाचक बतलाया है और षट्खण्डागम के रचयिताओं को अभिप्रेत भावस्त्री अर्थ को अमान्य कर दिया है। इस तरह उन्होंने 'मणुसिणी' शब्द पर स्वाभीष्ट अर्थ आरोपित कर षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक 'मणुसिणी' शब्द द्रव्यस्त्री का वाचक ही नहीं होता, इसलिए षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को तथाकथित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का अथवा यापनीयपरम्परा का आचार्य एवं षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु उपस्थित किये हैं, वे या तो असत्य हैं, या हेत्वाभास हैं। अतः यह तथ्य यथावत् प्रतिष्ठित रहता है कि उक्त तीनों आचार्य मूलसंघीय-दिगम्बरजैन-परम्परा के ही आचार्य थे तथा षट्खण्डागम दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है।

---

२७. विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के षष्ठ प्रकरण में देखिए।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चतुर्थ प्रकरण

षट्खण्डागम के दिगम्बरग्रन्थ होने के प्रमाण

यापनीयमतविरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि

न केवल पूर्वोक्त यापनीयपक्ष-समर्थक हेतुओं के अनस्तित्व से षट्खण्डागम दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध होता है, अपितु उसमें जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे भी श्वेताम्बरों और यापनीयों की मौलिक मान्यताओं के विरुद्ध हैं। उनसे यह और भी स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह दिगम्बराचार्यों की ही कृति है। वे यापनीयमतविरोधी सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

१. षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-अनुयोगद्वार का ९३वाँ सूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेधक है।

२. षट्खण्डागम में कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का प्रतिपादन गुणस्थानानुसार किया गया है। गुणस्थानानुसार बन्धमोक्षव्यवस्था यापनीय मान्यताओं के विरुद्ध है। इससे निम्नलिखित यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है : मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, शुभाशुभक्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, सम्यग्दृष्टि की स्त्री पर्याय में उत्पत्ति तथा स्त्री की तीर्थंकरपदप्राप्ति।

३. षट्खण्डागम में तीर्थंकर-प्रकृतिबन्धक सोलह कारण ही स्वीकार किये गये हैं, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं। यापनीयमान्य श्वेताम्बर आगमों में बीस कारण माने गये हैं।

४. षट्खण्डागम में सचेल स्थविरकल्प की अस्वीकृति यापनीयमत की अस्वीकृति है।

५. षट्खण्डागम में सोलह कल्पों (स्वर्गों) की मान्यता, यापनीयों की मात्र बारह कल्पों की मान्यता के विरुद्ध है।

६. षट्खण्डागम में अनुदिश-नामक नौ स्वर्गों को मान्य किया जाना भी यापनीयमत के विरुद्ध है। यापनीयमत में इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।

७. षट्खण्डागम में भाववेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, जो यापनीयमत में अमान्य हैं।

८. षट्खण्डागम में 'मणुसिणी' शब्द का प्रयोग दिगम्बरमान्य-आगम के अनुसार द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों अर्थों में किया गया है। यापनीयसम्प्रदाय के **स्त्रीनिर्वाणप्रकरण**

ग्रन्थ में 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग केवल द्रव्यस्त्री-अर्थ में उपलब्ध होता है। अतः 'मणुसिणी' शब्द का भावस्त्री अर्थ यापनीयमत के विरुद्ध है। षट्खण्डागम में उपलब्ध इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन आगे किया जा रहा है।

१

सत्प्ररूपणा का ९३ वाँ सूत्र स्त्रीमुक्ति-निषेधक

षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा-अनुयोगद्वार के मनुष्यिनियों (मानुषियों) के विषय में कहे गये निम्नलिखित सूत्र स्त्रीमुक्ति-निषेधक हैं—

"**मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।**" (ष.ख./पु.१/१,१,९२)।

"**सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।**" (ष.ख./पु.१/१,१,९३)।

अनुवाद—"मनुष्यिनियाँ (मानवस्त्रियाँ) मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों होती हैं। (सूत्र ९२)। किन्तु, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।" (सूत्र ९३)।

पूर्वशरीर के नष्ट होने पर उत्तर शरीरधारण करने के लिए जीव का नवीन जन्मस्थान में गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं। नवीन जन्मस्थान में शरीरादि की संरचना के लिए जो प्रक्रिया होती है, उसकी शक्ति उत्पन्न करनेवाले पुद्गलस्कन्धों की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं।[२८] वे छह होती है : आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति।[२९] इनमें से जब तक शरीरपर्याप्ति निष्पन्न नहीं होती, तब तक जीव अपर्याप्त कहलाता है और उसके

---

२८. आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभासमणसाणं।
परिणइ-वारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ॥ १३४॥
तस्सेव कारणाणं पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ती।
सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं॥ १३५॥ कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा।

२९. "--- तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः। --- तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रा-दिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणमनशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निष्पन्न हो जाने पर पर्याप्त कहलाने लगता है।[३०] तात्पर्य यह कि विग्रहगति से लेकर शरीरपर्याप्ति के निष्पन्न होने के पूर्व तक की अवस्था अपर्याप्तक अवस्था है।[३१]

उपर्युक्त ९२ वें सूत्र में कहा गया है कि मनुष्यिनियाँ अपर्याप्तक अवस्था में भी सासादनसम्यग्दृष्टि हो सकती हैं। इससे सूचित होता है कि जीव की **मनुष्यिनी** संज्ञा विग्रहगति में ही मनुष्यगतिनामकर्म एवं स्त्रीवेदनोकषायकर्म के उदय से निर्धारित हो जाती है। अतः 'मनुष्यिनी' संज्ञा का आधार **स्त्रीवेदनोकषायकर्म** का उदय भी है और **स्त्रीवेदनामकर्म** का उदय भी।

तथा "अपर्याप्तक अवस्था में मनुष्यिनी सासादनसम्यग्दृष्टि हो सकती है" सूत्र के इस कथन से स्पष्ट होता है कि पूर्वभव का सासादन-सम्यग्दृष्टि जीव मरकर सासादन-सम्यग्दर्शन-सहित उत्तरभव धारण कर सकता है और विग्रहगति में उसके मनुष्यगतिनामकर्म तथा स्त्रीवेदनोकषायकर्म का उदय हो सकता है।[३२] इसी कारण अपर्याप्तक अवस्था में मनुष्यिनी का सासादनसम्यग्दृष्टि होना संभव है।

शरीरपर्याप्तिः। ---योग्य-देशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचया-वाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। --- उच्छ्वासनिस्सारणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानापान-पर्याप्तिः। ---भाषावर्गणायाः स्कान्धानुचतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्म-पुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः।--- मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरण-शक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः।" (धवला / ष. ख. / पु.१ / १, १, ३४ / पृ.२५७ -२५८।

३०. क— पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तियपुण्णगो ताव॥ १२१॥ गोम्मटसार-जीवकाण्ड।
ख— "स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम्।" धवला / ष.खं. / पु.१/१,१,९२।

३१. विग्रहगतिवाले जीव का अपर्याप्तक में ही अन्तर्भाव किया गया है, इसका स्पष्टीकरण वीरसेनस्वामी ने इस प्रकार किया है—"अथ स्याद् विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते, आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्था-यामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति? नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि, कार्मणशरीरस्थित-प्राणिनामिवापर्याप्तकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्गत्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्।" धवला/ षट्खण्डागम / पु.१ / १, १, ९४।

३२. उत्तरभव के प्रथमसमय (विग्रहगति) में वेदपरिवर्तन का प्रमाण षट्खण्डागम के निम्नलिखित वचनों में उपलब्ध होता है—"णवुंसयवेदा केवचिरं कालादो होंति? जहण्णेण एयसमओ।" ष.ख./पु.७/२,२,१२०-१२१)। णवुंसयवेदोदएण उवसमसेडिं चडिय ओदरिय सवेदो होदूण विदियसमए कालं करिय पुरिसवेदं गदस्स एगसमयदंसणादो।" (धवला / ष.खं. / पु.७ / २,

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किन्तु ९३ वें सूत्र में अपर्याप्तक मनुष्यिनी के सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि आदि होने का निषेध किया गया है। इससे ज्ञापित होता है कि जो असंयतसम्यग्दृष्टि देव, नारकी या मनुष्य (बद्धायुष्क) सम्यग्दर्शनसहित मनुष्यगति में जाता है, उसके, विग्रहगति में मनुष्यगतिनामकर्म के साथ स्त्रीवेद या नपुंसकवेद-नोकषायकर्म का उदय नहीं होता, केवल पुरुषवेदनोकषायकर्म उदय में आता है—"**देव-णेरइअ मणुस्स-असंजदसम्माइट्ठिणो जदि मणुस्सेसु उप्पज्जंति तो णियमा पुरिसवेदेसु चेव उप्पज्जंति ण अण्णवेदेसु।**" (धवला/ष.ख./पु.२/१,१/पृ.५१२-५१३)। अतः कोई भी असंयत-सम्यग्दृष्टि देव, नारकी या मनुष्य **मनुष्यिनी** नहीं बन पाता। इसलिए अपर्याप्तक अवस्था में मनुष्यिनी के असंयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान नहीं होते।

इस प्रकार यह सूत्र सम्यग्दृष्टि जीवों के स्त्रीपर्याय में उत्पन्न होने का निषेधक है, जिसका फलितार्थ यह है कि **यह मल्लितीर्थंकर के स्त्री होने को स्वीकार नहीं करता,** क्योंकि श्वेताम्बरीय **ज्ञातृधर्मकथांग** के अनुसार उन्होंने उपान्त्य पूर्वभव में राजकुमार महाबल के रूप में सम्यग्दर्शनपूर्वक तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध किया था और अन्त्य पूर्वभव में जयन्तस्वर्ग में देव के रूप में उत्पन्न होकर उत्तरभव में सम्यग्दर्शनसहित ही मनुष्यभव प्राप्त किया था। अतः उपर्युक्त सूत्र के अनुसार उनका मनुष्यभव में स्त्री बनना नियमतः असंभव था, पुरुष होना ही अनिवार्य था। इस तरह स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणा का ९३वाँ सूत्र मल्लितीर्थंकर के स्त्री होने का निषेधक है। अतः इससे यह भी स्पष्ट होता है कि **वह द्रव्यस्त्री में संयतादि गुणस्थानों का भी निषेधक है।** यह षट्खण्डागम के श्वेताम्बर या यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ होने के विरुद्ध और दिगम्बरग्रन्थ होने के पक्ष में बलिष्ठ प्रमाण है। उक्त सूत्र में संयतादि गुणस्थानों का कथन भावस्त्रियों में (ऐसे मनुष्यों में जो शरीर से तो पुरुष होते हैं, किन्तु भाव से स्त्री) किया गया है, द्रव्यस्त्रियों में नहीं, इसका स्पष्टीकरण षष्ठ प्रकरण में द्रष्टव्य है।

२

षट्खण्डागम में गुणस्थानाश्रित बन्धमोक्षव्यवस्था

षट्खण्डागम में गुणस्थान-सिद्धान्त की उपलब्धि इसके यापनीयग्रन्थ होने के विरुद्ध दूसरा बड़ा प्रमाण है। यह दिगम्बरमत में ही सुरक्षित रह पाया है। इस सिद्धान्त

२,१२१)। **अनुवाद**—"जीव नपुंसकवेदी कितने काल तक रहते हैं? जघन्य से एक समय तक।" "क्योंकि नपुंसकवेद के उदय के साथ उपशमश्रेणी पर चढ़कर, फिर उतरकर, सवेद (नपुंसकवेद से युक्त) होकर और द्वितीय समय में मरकर पुरुषवेद को प्राप्त हुए जीव के नपुंसकवेद का जघन्य से एक समय काल देखा जाता है।"

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से क्या तात्पर्य है, यह पुनः स्मरण कर लेना आवश्यक है। आस्रव-बन्ध के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, उनके सद्भाव और अभाव से युक्त आत्मपरिणामों का नाम गुणस्थान है। दूसरे शब्दों में, कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से प्रकट आत्मा के उत्तरोत्तर वृद्धिंगत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक परिणाम गुणस्थान कहलाते हैं। ये मोक्ष के सोपान हैं। इनकी संख्या चौदह है, जिनके नाम इस प्रकार हैं : मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

इनमें उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न कर्मप्रकृतियों के उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षय, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की तथा भिन्न-भिन्न सम्यग्दर्शनों (प्रथमोपशम, क्षायोपशमिक, द्वितीयोपशम और क्षायिक), चारित्रभेदों, ध्यानभेदों एवं परीषहभेदों की उत्पत्ति की योग्यता होती है। अतः गुणस्थानों पर क्रमशः आरोहण करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इस नियम को **गुणस्थानसिद्धान्त** कहते हैं।

इस प्रकार दिगम्बरग्रन्थों में बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थानसिद्धान्त पर आश्रित बतलायी गयी है। गुणस्थानसिद्धान्त के ज्ञान के बिना बन्ध के हेतुभूत और मोक्ष के साधनभूत विविध परिणामों और उनके अभिव्यक्तिक्रम का बोध सम्भव नहीं है, न ही यह ज्ञान संभव है कि किस आत्मपरिणाम के साथ किन कर्मप्रकृतियों के आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष का सम्बन्ध है। संसार और मोक्ष की सम्पूर्ण प्रणाली गुणस्थानों की कील पर घूमती है। अतः **गुणस्थान-नियम** का स्पष्टीकरण ही वस्तुतः बन्धमार्ग और मोक्षमार्ग का स्पष्टीकरण है।

श्वेताम्बर-आम्नाय के प्राचीनसाहित्य में गुणस्थानसिद्धान्त अनुपलब्ध है। परवर्ती ग्रन्थों में उसका उल्लेख है, किन्तु श्वेताम्बर विद्वानों ने उसे प्रक्षिप्त माना है। अर्थात् वह दिगम्बरग्रन्थों से ग्रहणकर समाविष्ट किया गया है। यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानता था। अतः यह गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयमत में भी अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में इसके उपलब्ध न होने की बात डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार की है। वे **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय** ग्रन्थ में लिखते हैं—"गुणस्थान का यह सिद्धान्त समवायांग के १४ जीवसमासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी उसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है।" (पृ.२४८)।

अपनी बात को पुष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं—"जैसा कि हमने निर्देश किया है, श्वेताम्बरमान्य समवायांग में १४ जीवठाण के रूप में १४ गुणस्थानों का

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निर्देश है, किन्तु अनेक आधारों पर यह सिद्ध होता है कि समवायांग में प्रथम शती से पाँचवी शती के बीच अनेक प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः वलभीवाचना के समय ही जीवसमास का यह विषय उसमें संकलित किया गया होगा। अन्य प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर-आगमों, जैसे—**आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती** और यहाँ तक कि प्रथम शताब्दी में रचित **प्रज्ञापना** और **जीवाभिगम** में भी गुणस्थान का अभाव है।'' (जै.ध.या.स./ पृ.२५१)।

उन्होंने **जीवसमास** की भूमिका (पृ. IV) में लिखा है—''समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के इन चौदह नामों का निर्देश **आवश्यकनिर्युक्ति** में उपलब्ध है, किन्तु उसमें भी इन्हें गुणस्थान न कहकर **जीवस्थान** ही कहा गया है। ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति में भी ये गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इन्हें **संग्रहणीसूत्र** से उद्धृत बताया है। आगमों के समान **प्रकीर्णकों** में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बरपरम्परा में इन चौदह अवस्थाओं के लिए **गुणस्थान** शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें **आवश्यकचूर्णि** (७ वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।''

माननीय डॉ० सागरमल जी के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थान-सिद्धान्त की मान्यता नहीं है। जिन परवर्ती श्वेताम्बरग्रन्थों में गुणस्थानों का उल्लेख मिलता है, उनमें वह प्रक्षिप्त है अर्थात् दिगम्बरग्रन्थों से ग्रहण किया गया है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित सबसे प्राचीन ग्रन्थ **प्रज्ञापना** और **जीवाभिगम** हैं, जिन्हें डॉक्टर सा० प्रथम शताब्दी ई० का मानते हैं। उनमें उन्होंने गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव बतलाया है। **षट्खण्डागम-परिशीलन** के कर्त्ता पं० बालचन्द्र जी शास्त्री ने भी पृ.२३५ पर लिखा है—''प्रज्ञापना में मनुष्यजीव-प्रज्ञापना के प्रसंग में मनुष्यों के सम्मूर्च्छन व गर्भोपक्रान्तिक, इन दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके अन्तर्गत अनेक अवान्तर जातिभेदों को तो प्रकट किया गया है, पर गुणस्थानों व उनके आश्रय से होनेवाले उनके चौदह भेदों का कोई उल्लेख नहीं है (सूत्र ९२-१३८)।'' यही बात शास्त्री जी ने निम्नलिखित वक्तव्यों में कही है—

''षट्खण्डागम के रचयिताओं का प्रमुख ध्येय आत्महितैषी जीवों को आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट करके उन्हें मोक्षमार्ग में अग्रसर करना रहा है। इसीलिए उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आध्यात्मिक पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए उसके सोपानस्वरूप चौदह गुणस्थानों का विचार गति-इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओं के आश्रय से क्रमबद्ध व अतिशय व्यवस्थित रूप में किया है। यह विचार वहाँ प्रमुखता से उसके प्रथम

खण्ड जीवस्थान में सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों में यथाक्रम से किया गया है। परन्तु **प्रज्ञापना** में आध्यात्मिक उत्कर्ष को लक्ष्य में रखकर उसका कुछ भी विचार नहीं किया गया। **यहाँ तक कि उसमें गुणस्थान का कहीं नामोल्लेख भी नहीं है**'' (षट्.परि./पृ.२४१-२४२)।

''प्रज्ञापना के प्रारम्भ में मंगल के पश्चात् यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् जिनेन्द्र ने मुमुक्षुजनों को मोक्षप्राप्ति के निमित्त प्रज्ञापना का उपदेश किया था। परन्तु वर्तमान प्रज्ञापना ग्रन्थ में उस मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य में नहीं रखा गया दिखता। कारण यह है कि मोक्षप्राप्ति के उपायभूत जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, उनका उत्कर्ष गुणस्थानक्रम के अनुसार होता है। **परन्तु प्रज्ञापना में उन गुणस्थानों का कहीं कोई विचार नहीं किया गया।** इतना ही नहीं, गुणस्थान का तो वहाँ नाम भी दृष्टिगोचर नहीं होता।'' (षट्.परि./ पृ.२५७)।

इस प्रकार डॉ० सागरमल जी एवं पण्डित बालचन्द्र जी शास्त्री, दोनों के उपर्युक्त वक्तव्यों से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव है। इस सिद्धान्त के आधार पर न उनमें कर्मसिद्धान्त का विवेचन है, न ही जीवों में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के अभाव, सद्भाव, और उत्तरोत्तर उत्कर्ष का विवेचन किया गया है। यापनीयसम्प्रदाय की सम्पूर्ण सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि श्वेताम्बर आगमों पर ही आश्रित थी, अतः स्पष्ट है कि उनका सैद्धान्तिक चिन्तन भी गुणस्थानसिद्धान्त का अनुगामी नहीं था। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि यह सिद्धान्त उनकी गृहस्थमुक्ति और अन्यतैर्थिकमुक्ति की मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध है। इसका निरूपण आगे किया जा रहा है।

३
गुणस्थानसिद्धान्त सर्वज्ञोपदिष्ट, विकसित नहीं

प्रसंगवश यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि श्वेताम्बर-आगमों में जो गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव है, उससे बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण प्रणाली अव्यवस्थित हो गई है। आत्मपरिणामों और कर्मप्रकृतियों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष में किसी नियम का सद्भाव न होने से गृहस्थ-अवस्था में रहते हुए भी अर्थात् संयम के अभाव में भी मुक्ति मान ली गयी है। यहाँ तक कि परतीर्थिक के मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामों को भी कर्मक्षय का कारण मान लिया गया है। आत्मपरिणामों और कर्मपरिणामों के बीच की इस अव्यवस्था या अनियमितता पर डॉक्टर सा० की दृष्टि गई है, जिससे उन्हें श्वेताम्बर-आगमों में प्रतिपादित मोक्षमार्ग की अयुक्तिसंगतता

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और त्रुटिपूर्णता का अनुभव हुआ है। किन्तु उन्होंने इस यथार्थ को स्वीकार न कर श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानव्यवस्था के अभाव का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह मिथ्याहेतु गढ़ डाला कि गुणस्थान-नियम सर्वज्ञोपदिष्ट नहीं है, अपितु बाद के आचार्यों द्वारा विकसित किया गया है। और इस विकासवादी मनगढ़त हेतु के द्वारा उन्होंने यह भ्रम उत्पन्न करने का भी लाभ उठाया है कि जिन ग्रन्थों में गुणस्थानसिद्धान्त का अभाव है, वे प्राचीन हैं और जिनमें सद्भाव है, वे बहुत बाद के हैं। किन्तु डॉक्टर सा० ने गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित घोषित कर अनजाने में जैनधर्म और दर्शन की जड़ पर कुल्हाड़ी पटकने का उपक्रम किया है। उनकी परिकल्पना से सम्पूर्ण जैनदर्शन और धर्म सर्वज्ञोपदिष्ट सिद्ध न होकर छद्मस्थों द्वारा कल्पित किया गया सिद्ध होता है। क्योंकि जैनधर्म और दर्शन की आधारशिला कर्मसिद्धान्त है और कर्मसिद्धान्त की वैज्ञानिकता या युक्तिमत्ता-गुणस्थाननियम पर आश्रित है। गुणस्थानसिद्धान्त का मर्म है आत्मपरिणामों और पुद्गलकर्मों में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की स्वीकृति। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि अनादिबद्ध पुद्गलकर्मों के निमित्त से आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-रूप परिणाम होते हैं। उनसे पुद्गलकर्मों का आस्रव-बन्ध होता है तथा उनके अभाव से आत्मा के परिणाम निर्मल होते हैं, जिनसे पुद्गलकर्मों का संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है। इस प्रकार के आत्मा के परिणाम सामान्यतः चौदह प्रकार के होते हैं : मिथ्यात्वरूप, सासादनसम्यक्त्वरूप, सम्यग्मिथ्यात्वरूप, असंयतसम्यक्त्वरूप, संयमासंयमरूप, प्रमत्तसंयमरूप, अप्रमत्तसंयमरूप इत्यादि। इन आत्मपरिणामों को गुणस्थान कहते हैं। इनमें से भिन्न-भिन्न आत्म-परिणाम या गुणस्थान के द्वारा भिन्न-भिन्न कर्मों का आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है।[३३] प्रथम तीन परिणाम या गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के अभाव के सूचक हैं तथा बाद के ग्यारह परिणाम रत्नत्रय के सद्भाव और उत्तरोत्तर उत्कर्ष के सूचक। अतः गुणस्थान-परम्परा रत्नत्रय के अभाव-सद्भाव और उत्तरोत्तर उत्कर्ष तथा पूर्णता का मानदण्ड है तथा कर्मसिद्धान्त की आधारशिला है, अतः गुणस्थाननियम के बिना कर्मसिद्धान्त का औचित्य सिद्ध नहीं होता, बन्धमोक्ष की सम्पूर्ण प्रणाली कारणकार्य-सम्बन्ध से रहित, स्वच्छन्द और अयुक्तिसंगत हो जाती है। कर्मसिद्धान्त और रत्नत्रय ये दो ही जैन दर्शन और धर्म की बुनियाद हैं, अतः गुणस्थाननियम को सर्वज्ञोपदिष्ट न मानकर आरातीय आचार्यों द्वारा विकसित घोषित कर देने से यह घोषित होता है कि सम्पूर्ण जैन दर्शन और धर्म परिकल्पित है, सर्वज्ञोपदिष्ट, शाश्वत और सार्वभौमिक

---

३३. "तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते।" तत्त्वार्थराजवार्तिक ९ / १ / १०/ पृ. ५८८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सत्य नहीं है। अतः मान्य विद्वान् का यह गुणस्थान-विकासवाद सर्वथा कपोलकल्पित अत एव मिथ्या है, यह दशम अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है।

वस्तुतः दिगम्बरग्रन्थों में गुणस्थानसिद्धान्त की उपलब्धि और श्वेताम्बरग्रन्थों में अनु-पलब्धि सैद्धान्तिक विकास और अविकास का प्रमाण नहीं है, अपितु परम्परागत सिद्धान्तों के परित्याग और अपरित्याग का प्रमाण है। जैसे देहसुख के लिए परम्परागत अचेलत्व का त्याग कर दिया गया, फिर सचेलत्व में अचेलत्व घटाने के लिए अचेलत्व की मौलिक परिभाषा को तिलांजलि दे दी गयी और परिग्रह की मूलपरिभाषा भी त्याग दी गयी, वैसे ही सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति तथा विशेषरूप से गृहस्थमुक्ति और अन्यतैर्थिकमुक्ति की मान्यता के विरुद्ध होने से जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त का भी परित्याग कर दिया गया। श्वेताम्बर-आगमग्रन्थों में इस सिद्धान्त की अनुपलब्धि का यही कारण है। चूँकि गुणस्थान-सिद्धान्त जिनोपदिष्ट है, अतः इसके विकास की परि-कल्पना कर आचार्यरचित ग्रन्थों की पूर्वापरता का निर्णय करना औचित्यपूर्ण नहीं है। श्वेताम्बरपरम्परा का **जीवसमास** नामक ग्रन्थ स्वयं कहता है कि **चौबीस जिन** चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं—

दस चोद्दस य जिणवरे चोद्दस गुणजाणए नमंसिता।
चोद्दस जीवसमासे समासओऽणुक्कमिस्सामि॥ १॥[३४]

इसका फलितार्थ यह है कि चौदह गुणस्थानों का उपदेश तीर्थंकरों से ही प्राप्त हुआ था, बाद में परिकल्पित या विकसित नहीं किया गया। यद्यपि यह ग्रन्थ छठी शताब्दी ई०[३५] का माना गया है और डॉ० सागरमल जी के कथनानुसार चौदह गुणस्थानों का उल्लेख प्रक्षेप द्वारा ही श्वेताम्बरग्रन्थों में आया है, तथापि उपर्युक्त गाथा में गुणस्थानों का उपदेश तीर्थंकरों से ही प्राप्त माना गया है, विकसित नहीं।

४

गुणस्थान-सिद्धान्त यापनीय-सिद्धान्तों के विरुद्ध

यतः श्वेताम्बर-आगमों में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन गुणस्थानसिद्धान्त पर आश्रित नहीं है, न ही रत्नत्रय के अभाव, सद्भाव, क्रमिक उत्कर्ष और पूर्णता का निर्णय गुणस्थानसिद्धान्त के आधार पर किया गया है, अतः श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानने वाले यापनीयों के मत में भी ऐसा ही होना अनिवार्य है। अतः उनके ग्रन्थों में भी

३४. जीवसमास / अनुवादिका : साध्वी विद्युत्प्रभाश्री।
३५. वही / भूमिका : डॉ. सागरमल जी / पृ. I।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गुणस्थानसिद्धान्त की उपलब्धि न होना सुनिश्चित है। इसकी पुष्टि इन तथ्यों से होती है कि यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बरों की तरह गृहस्थों और अन्यतैर्थिकों की मुक्ति मानता था और गुणस्थानसिद्धान्त इन मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध है। आइये उन तथ्यों पर दृष्टि डालें।

४.१. मिथ्यादृष्टि (परलिंगी) की मुक्ति के विरुद्ध

श्वेताम्बरग्रन्थों के अनुसार मिथ्यादृष्टि भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में बोटिकों अर्थात् दिगम्बरों को मिथ्यादृष्टि कहा है।[३६] और आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में हरिभद्रसूरि ने मिथ्यादृष्टि उसे कहा है जो जिनवचन को प्रमाण न माने।[३७] इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में श्वेताम्बरों के अतिरिक्त अन्य सभी भिन्नमतावलम्बी मिथ्यादृष्टि हैं। बोटिकों को अर्थात् दिगम्बरों को तो स्पष्ट शब्दों में मिथ्यादृष्टि कहा गया है, बौद्ध भी उनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि की परिभाषा में आते हैं, क्योंकि वे इस जिनवचन को नहीं मानते कि आत्मा शाश्वत है और मुक्त होने पर नष्ट नहीं होता, अपितु लोकाग्र में जाकर स्थित हो जाता है तथा सदा स्वात्मोत्थ सुख का अनुभव करता रहता है। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि जैसे दीपक बुझने पर न पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, अपितु तेल समाप्त हो जाने के कारण उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, वैसे ही निर्वाण को प्राप्त आत्मा न पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न विदिशा में, प्रत्युत क्लेशों के विनष्ट हो जाने से, उसकी सत्ता ही लुप्त हो जाती है।[३८] इसी प्रकार वैदिक आदि अन्य मतावलम्बी भी जिनवचन को प्रमाण नहीं मानते, वे वेदादि को प्रमाण मानते हैं, अतः वे भी उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार मिथ्यादृष्टि हैं। ये सभी मिथ्यादृष्टि मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा श्वेताम्बरग्रन्थों

---

३६. क—"भिन्न-मय-लिंग-चरिया मिच्छदिट्ठि त्ति बोडियाऽभिमया॥ २६२०॥" विशेषावश्यकभाष्य।
ख—"मतं च लिङ्गं च भिक्षाग्रहणादिविषया चर्या च मतलिङ्गचर्याः, भिन्ना मतलिङ्गचर्या येषां ते तथाभूताः सन्तो बोटिका मिथ्यादृष्टयोऽभिभताः, भिन्नमतत्वादिकारणात् ते निर्युक्तिकृता मिथ्यादृष्टित्वेन निर्दिष्टा इत्यर्थः।" हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यक-भाष्य/ गा.२६२०।

३७. "निह्नव इति कोऽर्थः? स्वप्रपञ्चतस्तीर्थकरभाषितं निह्नुतेऽर्थं पचाद्यचि ति निह्नवो मिथ्यादृष्टिः। उक्तं च—

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः।
मिथ्यादृष्टिः, सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम्॥

हारिभद्रीयवृत्ति / आवश्यकनिर्युक्ति / गा.७७८।

३८. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥ १६ / २८॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में कहा गया है। आचार्य रत्नशेखरसूरि-कृत **सम्बोधसत्तरी** के निम्नलिखित वचन इसमें प्रमाण हैं—

सेयंबरो वा आसांबरो य बुद्धो वा तहैव अन्नो वा।
समभाव भावियप्पा लहइ मोक्खं ण संदेहो॥ [३९]

अनुवाद—"कोई श्वेताम्बर हो या दिगम्बर (आशाम्बर), बौद्ध हो या अन्यमतावलम्बी, समभाव धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं है।"

हरिभद्रसूरि ने भी **उपदेशतरंगिणी** में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव॥[४०]

उत्तराध्ययनसूत्र में स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तथा स्वलिंगधारी (जिनलिंगधारी), अन्यलिंगधारी (तापस, परिव्राजक आदि) एवं गृहिलिंगधारी (गृहस्थ) सभी को मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गयी है—

इत्थी पुरिस सिद्धा य तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य॥ ३६/९९॥

सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, असितदेवल, नारायण आदि ऋषियों के द्वारा अन्य परम्परा के आचार एवं वेशभूषा का अनुसरण करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करने के स्पष्ट उल्लेख हैं।[४१] **ऋषिभाषित** में औपनिषदिक, बौद्ध एवं अन्य श्रमणपरम्पराओं

एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥ १६/२९॥
महाकवि अश्वघोषकृत 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य।

३९. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृष्ठ ३६२ पर उद्धृत।

४०. वही / पृ.३६२ पर उद्धृत।

४१. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्तपोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति॥
अभुंजिया नमि विदेही, रामपुत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी॥
असिते देवले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह सम्मता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सअं ॥
सूत्रकृतांग १ / ३ / ४ / १-४ (जै.ध.या.स./ पृ. ४११)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के ऋषियों को **अर्हत् ऋषि** कहकर सम्मानित किया गया है।'' (जै.ध.या.स./ पृ.४११)।

इस प्रकार श्वेताम्बरमत में मिथ्यादृष्टि को भी मोक्ष के योग्य माना गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र के '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इस पहले ही सूत्र के विरुद्ध है तथा षट्खण्डागम की गुणस्थान-व्यवस्था के भी विपरीत है। क्योंकि षट्खण्डागम में मिथ्यादृष्टि को मोक्ष के योग्य नहीं माना गया है, अपितु जो जीव मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान छोड़कर सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान प्राप्त कर लेता है फिर क्रमशः संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानों पर आरोहण करता हुआ अयोगिकेवलीगुणस्थान में पहुँचता है, उसे ही मोक्ष के योग्य बतलाया गया है। इस चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त किये बिना कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, यह षट्खण्डागम का स्पष्ट निर्देश है। इस ग्रन्थ के निम्नलिखित सूत्रों में मोक्ष के उपर्युक्त क्रम का वर्णन किया गया है, जिनमें अयोगिकेवलिगुणस्थान के अन्त में ही सिद्ध पद की प्राप्ति बतलायी गयी है—

''**ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी। सासणसम्माइट्ठी। सम्मामिच्छाइट्ठी। असंजदसम्माइट्ठी। संजदासंजदा। पमत्तसंजदा। अप्पमत्तसंजदा। अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा। अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा। सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा। उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था। खीणकसाय-वीयरायछदुमत्था। सजोगकेवली। अजोगकेवली। सिद्धा चेदि।**'' (ष.खं./पु.१/१,१,९-२३)।

षट्खण्डागम के बन्धस्वामित्वविचय नामक तृतीयखण्ड (पुस्तक ८ / सूत्र ३५-३८) में बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव बन्धयोग्य १२० कर्मप्रकृतियों में से आहारकशरीर, आहारक-शरीराङ्गोपाङ्ग तथा तीर्थंकर इन तीन को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियों का बन्धक होता है। उसके संवर और अविपाकनिर्जरा एक भी प्रकृति की नहीं होती।

जीवस्थान-सत्प्ररूपणा में निर्दिष्ट है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर क्षीणमोहगुण-स्थान तक केवलज्ञान का अभाव रहता है। केवल सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध अवस्थाओं में ही केवलज्ञानी होते हैं। (ष.खं./पु.१/१,१,१२२)।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में संयम का अभाव भी बतलाया गया है। संयत जीव केवल प्रमत्तसंयत-गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली-गुणस्थान तक होते हैं—''**संजदा पमत्तसंज-दप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।**'' (ष.खं./पु.१/१,१,१२४)। मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ कषायें भी प्रायः सभी की सभी उदय में रहती हैं, जिससे वीतरागभाव

एवं समभाव की उत्पत्ति असंभव है। कषायोदय का अभाव एवं पूर्ण वीतरागता का सद्भाव केवल उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानों में होता है। (ष.खं./पु. १ / १, १ / ११४)। इससे यह भी संकेतित होता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता उपशान्तकषाय-वीतरागछद्मस्थ तथा क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानों में होती है, उसके पूर्व नहीं।

सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, ये नाम सूचित करते हैं कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में केवल चार घाती कर्मों का क्षय हुआ होता है, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्मों की सत्ता रहती है। अतः जब इन गुणस्थानों में सिद्धत्व प्राप्त नहीं हो पाता, तब मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में कैसे प्राप्त हो सकता है?

सम्यक्त्वोत्पत्ति के बहिरंग कारणों पर प्रकाश डालते हुए षट्खंडागम में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य हेतु कहा गया है—

"तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति, केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिण-बिंबं दट्ठूण।" (ष.खं. / पु.६ / १, ९-९, ३०)।

जिनबिम्बदर्शन को सम्यक्त्वोत्पत्ति का हेतु कहे जाने से स्पष्ट है कि जिनेन्द्रदेव में भक्ति रखनेवाले को ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है, जैनेतर देवों में भक्ति रखनेवाले को नहीं। इससे परलिंगी (परमतावलम्बी) की मुक्ति का निषेध किया गया है। जिस धर्म के श्रवण से सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है, उस धर्म का स्वरूप षट्खण्डागमकारों ने सम्यग्दृष्ट्यादि गुणस्थानों, पञ्चमहाव्रतों, रात्रिभोजनत्याग, पाँच प्रकार के चारित्र, बारह तपों और तीर्थंकर-प्रकृति-बंधक सोलह कारण-भावनाओं के रूप में प्रतिपादित किया है। सम्यक्त्व, संयतासंयतत्व (पाँच पापों से एकदेशनिवृत्ति) प्रमत्तसंयतत्व (पाँच पापों से सर्वथा निवृत्ति), अप्रमत्तसंयतत्व आदि गुणस्थान सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। प्राणातिपात (हिंसा) आदि पापों से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध होता है, अतः उनका त्याग धर्म है, यह निम्नलिखित सूत्रों में प्रतिपादित किया गया है—

"णेगम-ववहार-संगहाणं णाणावरणीयवेयणा पाणादिवादपच्चए। मुसावाद-पच्चए। अदत्तादाणपच्चए। मेहुणपच्चए। परिग्गहपच्चए। रादिभोयणपच्चए। एवं कोह-माणमाया-लोहरागदोसमोहपेम्मपच्चए। णिदाणपच्चए। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छदंसण-पओअ-पच्चए। एवं सत्तण्णं कम्माणं।" (ष.खं./पु.१२/४,२,८,२-११)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अनुवाद—"नैगम, व्यवहार और संग्रहनय की अपेक्षा ज्ञानावरणकर्म का बन्ध प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन प्रत्ययों से होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम-प्रत्ययों से भी होता है। निदान, अभ्याख्यान (दूसरों में अविद्यमान दोषों का कथन), कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि (क्रोधादिपरिणामों की उत्पत्ति में निमित्तभूत बाह्य पदार्थ), निकृति (धोखा देना), मान (प्रस्थ आदि माप, क्योंकि ये कूट-व्यवहार के हेतु हैं), माय (मेय = मापे जाने योग्य गेहूँ आदि पदार्थ, क्योंकि ये मापनेवाले के असत्य-व्यवहार के हेतु हैं), मोष (चोरी), मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, तथा प्रयोग (योग = मनवचनकायव्यापार), इन प्रत्ययों से भी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। शेष सात कर्मों का भी बन्ध इन्हीं प्रत्ययों से होता है।"

संयम या चारित्ररूप धर्म के पाँच भेद षट्खण्डागम में इस प्रकार बतलाये गये हैं—सामायिकशुद्धिसंयम, छेदोपस्थापना-शुद्धिसंयम, परिहारशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसाम्पराय-शुद्धिसंयम और यथाख्यातविहार-शुद्धिसंयम।[४२]

निम्नलिखित सूत्र में बारह प्रकार के आभ्यन्तर और बाह्य तपों का निर्देश किया गया है—"**तं सब्भंतरबाहिरं बारसविहं तं सव्वं तवोकम्मं णाम।**" (ष.खं./ पु.१३ / ५, ४,२६)।

सामायिक के समय करणीय क्रियाओं को क्रियाकर्म कहते हैं। उनका वर्णन करनेवाला सूत्र यह है—

"**तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरिया-कम्मं णाम।**" (ष.खं. / पु.१३ / ५,४,२८)।

अनुवाद—"आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार वन्दना करना, तीन बार अवनति करना, चार बार सिर नवाना और बारह आवर्त करना, यह सब क्रियाकर्म है।"

जो धार्मिक क्रियाएँ तीर्थंकरप्रकृति के भी बन्ध में निमित्त होती हैं, उनका वर्णन निम्नलिखित सूत्रों में हैं—

"**दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे,**

---

४२. " संजमाणुवादेण संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा संजदासंजदा अत्थि जीवा तिसरीरा चदुसरीरा। परिहारविसुद्धिसंजदा, सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा, जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा अत्थि जीवा तिसरीरा।" षट्खण्डागम / पु. १४ / ५, ६, १५६-१५७।

साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणदाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए, अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'' (ष.खं. / पु.८ / ३,४१)।

अनुवाद—''दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता, शील-व्रतों में निरतिचारता, छह आवश्यकों में अपरिहीनता, क्षण-लवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसम्पन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओं की प्रासुकपरित्यागता, साधुओं की समाधिसन्धारणता, साधुओं की वैयावृत्ययोग-युक्तता, अरहंतभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावनता और अभीक्ष्ण-अभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर-नाम-गोत्रकर्म को बाँधते हैं।''

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की दृष्टि में धर्म का यही स्वरूप है। इस जिनोपदिष्ट धर्म के श्रवण से ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। जैनेतरलिंगधारियों की जिनोपदिष्ट धर्म में श्रद्धा नहीं होती, अतः उसका श्रवण न करने से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, अत एव उनका मुक्त होना असम्भव है।

तथा पूर्वजन्म की वही स्मृतियाँ प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त बनती हैं, जिनसे जिनोपदिष्ट धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिन परलिंगियों को इस प्रकार का जातिस्मरण नहीं होता, वे परलिंगी ही बने रहते हैं, अत एव सम्यक्त्व के अभाव में उनके लिए मुक्ति के द्वार नहीं खुलते।

इस तरह जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन को प्रथमोपशमसम्यक्त्व का बाह्यनिमित्त प्रतिपादित करनेवाला उपर्युक्त सूत्र जैनेतर-लिंगधारियों की मुक्ति का निषेधक है।

षट्खण्डागम में कहा गया है कि जीव दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा का प्रारंभ अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में स्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में जहाँ, जिस काल में जिन, केवली और तीर्थंकर होते हैं वहाँ, उस काल में (उनके पादमूल में) करता है।[४३] चूँकि परलिंगधारी मनुष्य की जिन, केवली या तीर्थंकर में श्रद्धा नहीं होती, अतः वह उनके पादमूल का आश्रय न लेने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, अत एव षट्खण्डागम का यह सूत्र भी परतीर्थानुगामी की मुक्ति के विरुद्ध है।

---

४३. ''उवसामणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले? दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि, अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु जम्हि जिणा, केवली, तित्थयरा तम्हि आढवेदि।'' षट्खण्डागम/ पु. ६ / १,९-८,१०-११।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

'बन्धस्वामित्वविचय' के प्रकरण में बतलाया गया है कि जिन जीवों में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है, वे उसके उदय से देवों, असुरों और मनुष्यों के द्वारा अर्चनीय, पूजनीय, वन्दनीय, नमस्करणीय, नेता और धर्मतीर्थ के कर्त्ता, जिन व केवली होते हैं—

"**जस्स इणं तित्थयरणामगोदकम्मस्स उदएण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा, पूजणिज्जा, वंदणिज्जा, णमंसणिज्जा, णेदारा धम्म-तित्थयरा, जिणा, केवलिणो हवंति।**" (ष.खं. / पु.८ / ३,४२)।

यह सूत्र इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि जिस जीव में तीर्थंकरप्रकृति का उदय होता है, वही जीव तीर्थंकर बन सकता है। उसके अतिरिक्त और कोई जीव तीर्थंकर अर्थात् धर्मतीर्थ का प्रवर्तक नहीं हो सकता, इसलिए जो परतीर्थ के अनुगामी हैं, वे अतीर्थंकरप्रणीत मार्ग (मोक्ष के अवास्तविक मार्ग) का अनुगमन करने से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध भी उसी जीव को होता है, जो जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त सोलह कारण-भावनाओं का अभ्यास करता है। अतः परतीर्थानुगामी तीर्थंकरप्रकृति का भी बन्ध करने में असमर्थ है। इस तरह षट्खण्डागम का यह सूत्र भी मिथ्यादृष्टि या परतीर्थानुगामी की मुक्ति के विरुद्ध है।

षट्खण्डागम के कर्त्ताओं ने ग्रन्थ के आदि में मंगल के लिए अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पञ्चपरमेष्ठियों को ही नमस्कार किया है, किसी अन्य देव को नहीं। इसी प्रयोजन से ग्रन्थ के मध्य में भी जिनों और जिनानुयायी ऋषियों की ही वन्दना की गयी है। यथा—

"**णमो जिणाणं। णमो ओहिजिणाणं। णमो परमोहिजिणाणं। णमो सव्वोहिजिणाणं। णमो अणंतोहिजिणाणं। णमो कोट्ठबुद्धीणं। णमो बीजबुद्धीणं। णमो पदाणुसारीणं। णमो संभिण्णसोदाराणं। णमो उजुमदीणं। णमो विउलमदीणं। णमो दसपुव्वियाणं। णमो चोद्दसपुव्वियाणं। णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं। णमो विउव्वणपत्ताणं। णमो विज्जाहराणं। णमो चारणाणं। णमो पण्णसमणाणं। णमो आगासगामीणं। णमो आसीविसाणं। णमो दिट्ठिविसाणं। णमो उग्गतवाणं। णमो दित्ततवाणं। णमो तत्ततवाणं। णमो महातवाणं। णमो घोरतवाणं। णमो घोरपरक्कमाणं। णमो घोरगुणाणं। णमोऽघोरगुणबंभचारीणं। णमो आमोसहिपत्ताणं। णमो खेलोसहिपत्ताणं। णमो जल्लोसहिपत्ताणं। णमो विट्ठोसहिपत्ताणं। णमो सव्वोसहिपत्ताणं। णमो मणबलीणं। णमो वचिबलीणं। णमो कायबलीणं। णमो खीरसवीणं। णमो सप्पिसवीणं। णमो महुसवीणं। णमो अमडसवीणं। णमो अक्खीणमहाणसाणं। णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं। णमो वड्ढमाणबुद्धरिसिस्स।**" (ष.खं. / पु.९ / ४,१,१-४४)।

अनुवाद—"जिनों को नमस्कार करता हूँ। अवधि-जिनों (जिनों = मुनियों) को नमस्कार करता हूँ। परमावधि-जिनों को नमस्कार करता हूँ। सर्वावधि-जिनों को नमस्कार करता हूँ। अनन्तावधि-जिनों को नमस्कार करता हूँ। कोष्ठबुद्धिधारक जिनों को नमस्कार करता हूँ। बीजबुद्धिधारक जिनों को नमस्कार करता हूँ। पदानुसारी-ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार करता हूँ। सम्भिन्नश्रोता जिनों को नमस्कार करता हूँ। ऋजुमति-मनःपर्ययज्ञानी जिनों को नमस्कार करता हूँ। विपुलमति जिनों को नमस्कार करता हूँ। दशपूर्वी जिनों को नमस्कार करता हूँ। चौदहपूर्वी जिनों को नमस्कार करता हूँ। अष्टाङ्ग-महानिमित्त-कुशल जिनों को नमस्कार करता हूँ। विक्रियाऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। विद्याधर जिनों को नमस्कार करता हूँ। चारणऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। प्रज्ञाश्रवण (प्रज्ञा ही है श्रवण जिनका) जिनों को नमस्कार करता हूँ। आकाशगामी जिनों को नमस्कार करता हूँ। आशीर्विष जिनों को नमस्कार करता हूँ। दृष्टिविष जिनों को नमस्कार करता हूँ। उग्रतप जिनों को नमस्कार करता हूँ। दीप्ततप-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। तप्ततप- ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। महातपऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। घोरतप-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। घोरपराक्रम-ऋद्धिधारी-जिनों को नमस्कार करता हूँ। घोरगुण जिनों को नमस्कार करता हूँ। अघोरगुण-ब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। आमर्षौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। खेलौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। जल्लौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। विष्ठौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। सर्वौषधि-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। मनोबल-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। वचनबल-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। कायबल-ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार करता हूँ। क्षीरस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। सर्पिस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। मधुस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार करता हूँ। अक्षीणमहानस जिनों को नमस्कार करता हूँ। लोक के समस्त सिद्धायतनों (अकृत्रिम चैत्यालयों, तीर्थों, मन्दिरों) को नमस्कार करता हूँ। वर्धमान बुद्ध (केवलज्ञानी) ऋषि को नमस्कार करता हूँ।"

इन सूत्रों में केवल जिनों (प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियों), जिनसिद्धायतनों तथा जिनेन्द्र भगवान् महावीर को मंगलहेतु नमस्कार किया गया है, किसी अन्य सम्प्रदाय के साधुओं, या देवों को नहीं। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम के कर्त्ताओं की दृष्टि में अन्य सम्प्रदाय के साधु जिन (प्रमत्तसंयतादि-गुणस्थानवर्ती) नहीं हैं, अत एव मोक्षमार्गी एवं मंगलकारी न होने से वन्दनीय नहीं हैं। इस प्रकार ये सूत्र भी परतीर्थानुयायियों की मुक्ति के विरुद्ध हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

विशेषावश्यकभाष्य में **जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण** ने कहा है कि मुनिवेशधारी यदि निश्शील है, तो भी उसे मुनि मानकर जो दान देता है उसे मुनिदान का स्वर्गादिफल प्राप्त होता है। इस पर प्रश्न उठाया गया है कि यदि ऐसा है, तो जो **सरजस्क** (**कापालिक**) आदि[४४] कुलिंगी हैं, उन्हें भी मुनि समझकर दान देनेवाले को मुनिदान का फल क्यों प्राप्त नहीं होगा? इसके समाधान में कहा गया है कि मुनिलिंग ज्ञानादि गुणों का आश्रय है, इसलिए उसे कोई शीलरहित मायाचारी भी धारण किये हो, तो भी पाषाणादि से निर्मित अरहन्त-प्रतिमा के समान वह मुनिवेश ज्ञानादिगुणों का आश्रय मानकर पूज्य है, किन्तु कुलिंग पूज्य नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानादिगुणों का कथंचित् भी आश्रय (उत्पत्ति का हेतु) नहीं है। यहाँ प्रतिप्रश्न किया गया है कि आगम में ऐसा कथन है कि केवलज्ञान तो कुलिंग में वर्तमान अन्यतीर्थिकों को भी होता है, तब वह ज्ञानादिगुणों का आश्रय मानकर पूज्य क्यों नहीं है? इसका समाधान करते हुए जिनभद्रगणी कहते हैं—"कुलिंगियों में केवलज्ञान की उत्पत्ति भावलिंग से होती है, कुलिंग से नहीं, क्योंकि कुलिंग केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है, अतः वह पूज्य नहीं है।[४५] किन्तु मुनिलिंग केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए वह पूज्य हैं।"

---

४४. क— "सरजस्कानामस्थ्यादिपरिग्रहाद्।" आचारांग (प्रथमश्रुतस्कन्ध)/ शीलांकाचार्यवृत्ति, ५/२/सूत्र १५०।

ख—पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने सरजस्कों को कपाल बगैरह रखनेवाला कहा है, जैसा कि शीलांकाचार्यवृत्ति से ज्ञात होता है। (भगवान् महावीर का अचेलक धर्म/पृष्ठ १८)।

४५. "णणु मुणिवेसच्छन्ने निस्सीले वि मुणिबुद्धिए देंतो।
पावइ मुणिदाणफलं तह किं न कुलिंगदायावि॥ ३२९१॥

"ननु मुनेर्वेषो मुनिवेषस्तेन च्छन्नोऽविज्ञातो य उदायिनृपमारकादिस्तस्मिन् निःशीलेऽपि मुनिबुद्ध्या दानं ददद् दाता मुनिदानफलं स्वर्गादिकं प्राप्नोति, इत्येतद् भवतामपि तावत् सम्मतं, तथा तैनेव प्रकारेण कुत्सितलिङ्गी कुलिङ्गी सरजस्कादिस्तस्मै दाता कुलिङ्गदाता, सोऽपि किं न मुनिफलं प्राप्नोति, मुनिबुद्धेस्तस्यापि तत्र सद्भावात्? इति गुरुराह—

"जं थाणं मुणिलिंगं गुणाण सुन्नं पि तेण पडिमव्व।
पुज्जं थाणमईए वि कुलिंगं सव्वहाऽजुत्तं॥ ३२९२॥

"यस्माद् मुनिलिङ्गं ज्ञानादिगुणानां स्थानमाश्रयः, तेन तस्मात् कस्यापि मायाविनः सम्बन्धि तत् शून्यमपि गुणैरविज्ञातं पाषाणादिनिर्मितार्हत्प्रतिमावत् स्थानमत्यापि पूज्यम्। कुलिङ्गं सर्वथा पूजयितुं न युक्तं, ज्ञानादिगुणानां सर्वथैवानाश्रयत्वादिति। पुनरपि परः प्राह—

"णणु केवलं कुलिंगे वि होइ तं भावलिंगओ न तओ।
मुणिलिंगमंगभावं जाइ जओ तेण तं पुज्जं॥ ३२९३॥

ननु केवलं केवलज्ञानं कुलिङ्गेऽपि वर्तमानानामन्यतीर्थिकानां भवतीत्यागमे श्रूयते, तत् किमिति स्थानबुद्ध्या तत् पूज्यं नेष्यते? गुरुराह—तत् केवलज्ञानं भावलिङ्गतो भवति, न पुनस्ततः कुलिङ्गात्, तस्य केवलज्ञानानङ्गत्वात्। मुनिलिङ्गं पुनर्यस्मादङ्गभावं केवलज्ञानस्य कारणतां याति,तेन तस्मात् तत् पूज्यमिति।" विशेषावश्यकभाष्य/मूल एवं हेमचन्द्रसूरिवृत्ति/पृ.६२८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जिनभद्रगणी जी का यह समाधान आगमसम्मत नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—"**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।**" (१०/१) अर्थात् मोहनीय का क्षय होने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है। और तत्त्वार्थसूत्र में इन कर्मों के क्षय के हेतु महाव्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप एवं ध्यान बतलाये गये हैं। (त.सू./७/१, ९/२,३,८,३७,३८)। अतः इनका समूह ही वह भावलिंग है, जिससे केवलज्ञान का आविर्भाव होता है। यह भावलिंग जिनोपदेश में श्रद्धा न रखनेवाले और उपर्युक्त महाव्रतादि का आचरण न करनेवाले सरजस्क आदि कुलिंगियों में प्रकट नहीं हो सकता। अतः उनको केवलज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति मानना आगमविरुद्ध है। षट्खण्डागम में केवलज्ञान को अर्थात् सयोगकेवलि-गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए असंयत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान प्राप्त करने की शर्त शुरू में ही रख दी गयी है। और असंयतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान का अर्थ है जिनवचन में श्रद्धा, जिसका कुलिंगियों अर्थात् **परतीर्थिकों** में अभाव होता है। इससे सिद्ध है कि षट्खण्डागम श्वेताम्बरों और यापनीयों को मान्य परतीर्थिकों की मुक्ति के विरुद्ध है।

४.१.१. **जिनलिंग पूज्य, जिनलिंगाभास अपूज्य**—तथा जिनभद्रगणी जी की मान्यता है कि जैसे पाषाणादि की प्रतिमा में ज्ञानादिगुण नहीं होते, तथापि अरहन्त का प्रतिरूप होने से पूज्य होती है, वैसे ही कोई शीलरहित मायाचारी पुरुष भी यदि मुनिलिंग धारण किये हो, तो वह मुनिलिंग केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण होने से पूज्य है। अर्थात् मुनिलिंग के सम्पर्क से शीलरहित मायाचारी भी पूज्य है। (देखिये, पा.टि.४५)।

ऐसी मान्यता **यशस्तिलकचम्पू** के कर्त्ता दिगम्बर **सोमदेव सूरि** की भी है। वे लिखते हैं—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः॥

यशस्तिलकचम्पू / उत्तरखण्ड / आश्वास ८ / पृ. ४०५।

अनुवाद—"इस कलिकाल में चित्त चंचल हो गया है और शरीर अन्नादि का कीड़ा बन गया है। ऐसे समय में भी जिनरूपधारी पुरुष दिखायी देते हैं, यह आश्चर्य की बात है।"

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"अतः जैसे जिनेन्द्रों का लेपादिनिर्मित रूप अर्थात् पाषाणादि-प्रतिमा में बनाया गया रूप पूज्य होता है, वैसे ही वर्तमान के शिथिलाचारी मुनियों में दृश्यमान मुनिरूप पूर्वकालीन शुद्धाचारी मुनियों का प्रतिरूप मानकर पूजनीय है।"

दोनों ग्रन्थकारों की ये एक जैसी मान्यताएँ आगमसम्मत नहीं हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने **'दंसणपाहुड' में मुनिवेश को नहीं, मुनि वेशधारी के संयम को वन्दनीय बतलाया है** और मुनिवेशधारी होते हुए भी जो असंयमी है, उसे अवन्दनीय कहा है। देखिए—

अस्संजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि॥ २६॥

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंयुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ॥ २७॥

अनुवाद—"असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। और जो वस्त्रविहीन होकर भी असंयमी है, वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान होते हैं। इनमें से कोई भी संयमी नहीं है।" (२६)।

"न तो देह की वन्दना की जाती है, न कुल की, न जाति की। संयमादिगुणहीन की वन्दना कैसे की जाय? वह न तो श्रमण होता है, न श्रावक।" (२७)।

इन वचनों से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द असंयमी के मुनिवेश को, नग्नदेह को वन्दनीय नहीं मानते। जहाँ उन्होंने मुनिवेश को वन्दनीय कहा है, वहाँ संयमी के ही मुनिवेश को कहा है, असंयमी के नहीं। यथा—

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सोऽसंजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो॥ २४॥

अमराण वदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति॥ २५॥ दं.पा.

अनुवाद—"जो पुरुष ईर्ष्याभाव के कारण सहजोत्पन्न (दिगम्बरजैन मुनि के यथाजात नग्न) रूप को देखकर उसकी विनय नहीं करता, वह असंयमी पुरुष मिथ्यादृष्टि है। (२४)। **शीलसहित मुनियों का वह यथाजातरूप** देवों के द्वारा वन्दनीय है। उसे देखकर जो गर्व करते हैं (विनयावनत नहीं होते), वे सम्यक्त्वरहित हैं।" (२५)।

इन गाथाओं में कुन्दकुन्द ने शीलसहित मुनियों के ही नग्नवेश को वन्दनीय बतलाया है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द **असंयमियों के द्वारा धारण किये गये नग्नवेश को जिनलिंग नहीं, अपितु जिनलिंगाभास मानते हैं।**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ज्ञातव्य—दंसणपाहुड की उपर्युक्त २४ वीं गाथा के **सोऽसंजमपडिवण्णो** (वह असंयम को प्राप्त अर्थात् असंयमी पुरुष) इस वाक्यांश में, दर्शाये अनुसार अवग्रहचिह्न होना चाहिए। किन्तु प्रायः सभी प्रतियों में वह अनुपलब्ध है अर्थात् **सो संजमपडिवण्णो** ऐसा पाठ है, जिससे 'वह संयम को प्राप्त अर्थात् संयमी पुरुष', यह अर्थ संकेतित होता है। परिणामस्वरूप गाथा से सर्वथा उलटा अर्थ निकलता है, जैसे "जो संयमी पुरुष अर्थात् दिगम्बरजैन मुनि ईर्ष्या के कारण सहजोत्पन्न नग्न रूप को अर्थात् दिगम्बर जैन मुनि को देखकर उनकी विनय नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है," यह अर्थ सर्वथा असंगत है, क्योंकि जो स्वयं दिगम्बरजैन मुनि है, वह दिगम्बरजैन मुनि के रूप से न तो ईर्ष्या कर सकता है, न उसका अनादर। अतः टीकाकार श्रुतसागरसूरि (१६वीं शती ई०) ने **संयमप्रतिपन्न** शब्द को उन भ्रष्ट दिगम्बरजैन मुनियों का सूचक मान लिया, जो १३वीं शताब्दी ई० में आचार्य वसन्तकीर्ति के उपदेश से आहारादि के लिए निकलते समय शरीर को चटाई, टाट आदि से ढँकने लगे थे (दंसणपाहुड / टीका/ गा.२४), और शीतकाल में कम्बल ओढ़ने लगे थे। (श्रुतसागरसूरि : तत्त्वार्थवृत्ति ९/ ४७)। इसे श्रुतसागरसूरि ने दिगम्बरजैन मुनियों के लिए **अपवादवेष** ('**संयमिनामित्यपवादवेषः**'-दंसणपाहुड / टीका / गा.२४) कहकर आगमानुकूल बतलाने का प्रयत्न किया है। इससे इन वस्त्रपरिग्रही भ्रष्ट मुनियों पर 'संयमप्रतिपन्न' (संयमी) विशेषण भी लागू हो जाता है और सच्चे दिगम्बर जैन मुनियों के सहजोत्पन्न नग्नरूप के प्रति उनका ईर्ष्या और अनादरभाव रखना भी उपपन्न हो जाता है। उक्त अपवादवेशधारी भष्ट मुनियों को ही श्रुतसागरसूरि ने **संयमप्रतिपन्न** (संयमी) कहा है, यह उनके निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है—"**संयमप्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि---अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः**।" (दंसणपाहुड / टीका / गा.२४)।

किन्तु आचार्य श्री कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और उपर्युक्त अपवादवेष के उपदेशक आचार्य वसन्तकीर्ति ईसा की १३वीं शती में। अतः कुन्दकुन्द की गाथा में **संयमप्रतिपन्न** शब्द उपर्युक्त अपवादवेषधारी जैनश्रमणाभासों के लिए प्रयुक्त माना ही नहीं जा सकता। और जो कुन्दकुन्द यह मानते हैं कि साधु बाल के अग्रभाग के भी बराबर परिग्रह नहीं रखता—"**बालग्गकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं**" (सुत्तापाहुड / गा.१७) तथा वह यथाजतरूपसदृश होता है, हाथ में तिल के तुष के बराबर भी परिग्रह ग्रहण नहीं करता, यदि करता है, तो निगोद में जाता है (सुत्तपाहुड/ गा.१८), ऐसी मान्यतावाले कुन्दकुन्द उक्त अपवादेशधारी श्रमणाभासों को 'सयमप्रतिपन्न' कह ही नहीं सकते। अतः सिद्ध है कि 'दंसणपाहुड' की उक्त २४ वीं गाथा में अवग्रहचिह्नसहित **सोऽसंजमपडिवण्णो** पाठ ही है, जिससे गाथा का अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द के अभिप्रायानुसार प्रतिपन्न होता है। वही अर्थ ऊपर उद्धृत २४ वीं गाथा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in